जमाने की कथा एक शायर के बहाने

■ विजय बहादुर सिंह
आलोचक

संपर्क : 29 निराला नगर
दुष्यंत कुमार मार्ग,
भोपाल-462003 (म.प्र.)

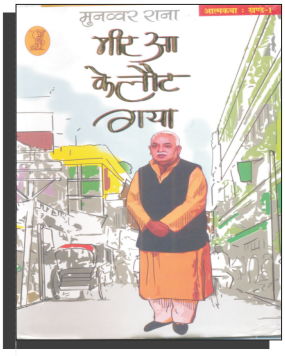

पुस्तक : मीर आ के लौट गया
लेखक : मुनव्वर राणा
अनुवाद : कैफ सिद्दीकी सुलतानपुरी
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
पृष्ठ : 644
मूल्य : ₹ 995

मुनव्वर राना की लोक पहचान एक जाने-माने मंचीय शायर के रूप में ही अधिक है। अपने समर्पित धार्मिक विश्वासों, उससे जुड़े उसूलों के बावजूद वे तरह-तरह की परस्पर दुश्मनी और दोस्त राष्ट्रीयताओं में इंसानी जज्बे को अगवानी के कायल हैं। कोई अगर यह कहे कि वे एक कट्टर मुसलमान हैं तो उसका यह कहना तब तक अधूरा रहेगा जब तक यह न कहे कि उतनी ही इज्जत वे एक नैतिक हिंदू को भी देते हैं जो अपने विश्वासों या उसूलों का पक्का है पर प्रेम तो वे किसी को तभी कर पाते हैं जब वह शख्स इंसान हो। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि उनका असली मजहब इंसानीपन है।

अवध की धरती का होने के कारण मुनव्वर मुझे भी अपने आस-पास का ही मानते हैं। एक-दो बार की ही हमारी मुलाकातें हमारे जीवन की गिनी-चुनीं तस्वीरें हैं। फिर भी मुनव्वर की याददाश्त बहुत तगड़ी ही नहीं, बहुत गहरी भी है। वे शायद ही कभी कुछ भूल पाते हों, यहां तक कि बदनीयती भी। पर उसे याद करते हुए उन्हें गुस्सा तो कम दर्द का एहसास कुछ ज्यादा ही होता है। पर उनके जीवन की ये यादें उनके लेखन में उतनी अहमियत नहीं रखतीं जितनी कि जीवन को ताकत और सुकून देने वाली यादों की हैं।

'मीर आ के लौट गया' इधर आई उनकी आत्मकथात्मक गद्य-पुस्तक है जो एक पूरा जमाना तो समेटे हुए है ही, उनके शायराने गद्य का भी बेहतर नमूना है। इसे पढ़कर यह तो महसूस किया ही जा सकता है कि उर्दू शायरी ही नहीं, गद्य पर भी उन्हें कमाल हासिल है। फिर उर्दू में अरबी, फारसी के साथ-साथ दिल्ली के लाल किले के आस-पास की जो रेख्ता और वृहत्तर अर्थ में हिंदुस्तानी या हिंदवी है वह भी घुल-मिल गई है। मुनव्वर के स्पर्श के चलते वह जरूरत से ज्यादा रेशमी और मीठी हो गई है। इसे गनीमत कहें या फिर अफसोसनाक कि उर्दू को संस्कृत-भाषा की वे सुगंधें नहीं मिल पाईं जिनके होने पर वह हिंदुस्तान की सांस्कृतिक चेतना की भाषा भी बन पाती। फिराक गोरखपुरी की एकाध बात अगर छोड़ भी दें तो लगभग सारी उर्दू या रेख्ता की शायरी आज भी उस सांस्कृतिक चेतना को ठीक-ठीक आत्मसात नहीं कर पाई है जो अन्य देशी जबानें प्रायः अपने में समेटे हुए हैं। नजीर और इकबाल जैसे दो-एक शायर जरूर हैं जो अपवाद कहे जा सकते हैं। तब भी उर्दू जबान भी देशी हिंदुस्तानी तबीयत को सबसे प्यारी जबान है क्योंकि उसमें मुहब्बत और मार्मिक अनुभवों का तरल समुद्र लहरें लेता रहता है।

मुनव्वर ने अपनी मूल आत्मकथा इसी जबान में लिखा है। वर्तमान संस्करण तो वाणी प्रकाशन से कैफ सिद्धीकी सुलतानपुरी द्वारा अनुदित है यद्यपि यहां भरपूर कोशिश की गई है कि यह मूल अधिक और अनुवाद कम ही लगे। इसीलिए जहां-तहां मूल रचनाकार द्वारा प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। निश्चय ही इससे ठेठ हिंदी पाठकों को अर्थ-ग्रहण करने में जहां-तहां दिक्कत पेश आएगी।

आत्मकथा में जो एक बात अहम दर्द के साथ बार-बार किसी पुराने रिसते घाव की तरह उठाई गई है वह मुल्क का बंटवारा है, जिसे मुनव्वर जैसे शायर किसी पल भी भूल नहीं पाए हैं। यह गैर वाजिब भी नहीं है क्योंकि इससे सिर्फ देश की धरती नहीं बंटी, परिवारों का भरा-पूरा खुशगवार इलाका और दिलों का मौसम भी बेरहमी से बंट गया। अब अपने ही लोगों से मिलने के लिए अब्बा और अम्मी से नहीं, उन सरकारों से पूछना और आज्ञा लेनी पड़ती है जो इस प्रकार के बंटवारों की जिम्मेदार और अपराधिनी हैं। आत्मकथा के तीन सौ इकसठवें पृष्ठ पर मुनव्वर जैसे फूट से पड़े हैं- हमने अगर हिजरतों से अपना मुकद्दर बनाने की कोशिश न की होती तो शायद दुनिया आज भी वैसी ही होती जैसी दुनिया ऊपर वाला बनाना चाहता था। लेकिन अब कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि दुनिया के खुदाओं ने आसमानी खुदा से हजारों बरस के लिए लीज पर दुनिया का पट्टा अपने नाम करा लिया है। शायद इसीलिए कैसी हो तकसीम (बंटवारा) हो जाए ऊपर वाला अपनी आंख की पट्टी नहीं खोलता। यह जो हिजरत (प्रवास) का जख्म होता है, वह बड़ा जानलेवा होता है, किसी दवा से नहीं भरता, किसी भी चारागर (चिकित्सक) को समझ में नहीं आता। आगे एक बेहद मार्मिक पंक्ति वे लिखते हैं-

'हिजरत की धूप आंसुओं को चाट जाती है, तभी तो हर मुहाजिर (प्रवासी) बगैर आंसुओं के रोता हुआ दिखाई देता है।'

मुनव्वर की यह पीड़ा उनकी छह-सात साल पहले लिखी मुहाजिरनामा जैसी नज्म में भारी डीटेल के साथ दर्ज है। उसके कुछ टुकड़े तो इतने करुण और मार्मिक हैं कि पढ़ने वालों को उन्हें पढ़ पाना मुश्किल लगने लगता है।

बंटवारे के पहले के हिंदुस्तानी समाज और जीवन को इस आत्मकथा में जिस तरह बार-बार याद किया गया है उससे यह लगने लगता है कि बातें बीत कर भी नहीं बीततीं। तब बच्चन जैसे कवियों का यह लिखना- 'जो बीत गई सो बात गई' कितनी सही है? पर सच तो वही जो मुनव्वर ने लिखा कि यादें तो शायद ही कभी जाती हों। बल्कि अनचाहे अलग होने के चलते और पुरजोर होकर घेरती हैं। ऐसे में मंटो और कृश्नचंदर की याद आना स्वाभाविक ही है। लेकिन एक खास बात जो याद रखने वाली है वह यह स्वीकृति है- 'कभी-कभी मैं सोचता हूं कि मेरे पूरे खानदान के पाकिस्तान चले जाने के बावजूद मेरे वालिद का हिंदुस्तान में रहने का फैसला कितना कीमती था।'

आत्मकथा में दूसरा महत्वपूर्ण प्रसंग लेखक ने उस हिंदू मुस्लिम संबंध और सघन भरोसे मंदी को लेकर उठाया है, जिसके चलते कटा-पिटा, फिर भी अपनी जेहनियत में साबुत हिंदुस्तानी जीवन एक दूसरे के प्रति भरोसा और प्यार बांटते हुए इस राष्ट्र के जीवन को खूबसूरत बना रहा है। इसमें पंजाब से लेकर अवध और बंगाल तक के जिन लोगों को उन्होंने याद किया है, वे सचमुच याद करने लायक हैं। उस रोज-रोज बदसूरत होती जाती दुनिया को अपनी मौजूदगी से खूबसूरत बनाए रखने वाले ये लोग इस पुस्तक की वे सुगंधें हैं जिनसे मुनव्वर जैसे शायर का अपना जीवन ही नहीं, उनके पाठकों का जीवन भी महकने लगता है। अयोध्या प्रसाद मिश्रा, नारंग साकी या फिर तरुण विजय और बड़े ठाकुर (कृष्ण वल्लभ शर्मा) जैसे अपने आत्मीय रिश्तों का बखान कर लेखक ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों की खूबसूरत इबारतों की याद दिलाई है। प्रकारांतर से यह नसीहत भी दी है कि विविध जीवनशैलियों और विश्वासों के बावजूद, एक दूसरे को उसके हक और इच्छा की आजादी और उसके प्रति सम्मान रखकर ही लोकतांत्रिक मनुष्यता की रक्षा की जा सकती है। सामाजिक जीवन की यही सच्ची और खूबसूरत लोकतांत्रिकता है। सच तो अपने विश्वासों और धर्मों का चयन हम प्रायः स्वयं नहीं करते। ज्यादातर तो वह हमें जनमते ही घर-परिवार के वातावरण से बगैर किसी कोशिश के मिल जाता है। हम उसे एक सहज प्राप्ति मान जीने लगते हैं। तब इन चयनों या प्राप्तियों में हमारी भूमिका क्या? फिर भी इंसान बनने और बनकर रहने में तो हमारे अपने विवेक और सामाजिक आचरणों की भूमिका बनती ही है। मुझे तो लोकप्रिय कवि नीरज की यह सीधी सी बात बहुत कीमती और सार्थक लगती है-

बस यही अपराध मैं हर बार करता हूं
आदमी हूं आदमी से प्यार करता हूं।

आत्मकथा में अपने जन्मशहर रायबरेली, शिक्षा-शहर लखनऊ और कर्म-शहर कलकत्ता को अनेक रूपों और स्तरों पर याद किया गया है। इसमें खास बात यह कि रायबरेली और अवध को उसकी वृहत्तर प्रतिभा-समृद्धि और सघन सामाजिक बुनावटों के लिए तो कलकत्ता को अपने आइडेंटिटी शहर के रूप में याद किया गया है। रूपक की भाषा में कहा जाए तो यह उनके यानी लेखक के फूल बनकर महक फैलाने वाला शहर है जहां वे थोड़ा बहुत कारोबार तो ढेर सारा अदबी कारोबार करते नजर आते हैं। आकाशवाणी, दूरदर्शन, अन्य अनेक सांस्कृतिक महफिलें और उनमें अपनी संचालन कला का जादू बिखेरते मुनव्वर जिन अनेक किरदारों से होकर गुजरते हैं, उसमें बगैर किसी के चेहरे को विरूप करते हुए कलकत्ता महानगर के मानवीय ठिकानों की पहचान की जा सकती है। निश्चय ही यहां ऐसे किरदार भी हैं जिनका चेहरा, वे चाहते तो पोत भी सकते थे पर जीवन की मांगें और परिस्थितियों के दबाव प्रायः आदमी को दुर्बल करते ही रहते हैं। मुनव्वर को इस दुर्बलता की रक्षा करना भी खूब आता है। शायद कभी उन्होंने पढ़ा हो कविकर पंत की यह पंक्ति-'दीन, दुर्बल है रे संसार/इसी से दया, क्षमा और प्यार।' पर मुनव्वर ने आत्मकथा में इसके आगे की एक बात लिखी-'शायरी कभी नफरत की नर्सरी को पनपने नहीं देती क्योंकि शायरी तो वह औरत है जो हर रोते हुए बच्चे की जात पूछे बगैर उसे अपनी गोद में उठा लेती है।' शायरी का यह शायर यहां बार-बार दिखता है।

कलकत्ता (अब बंगाली उच्चारण वाला रसगोलवी नाम 'कोलकाता') में मुनव्वर का व्यक्तित्व ड्रामानिगार, अभिनेता और महफिलों के संचालक होने के अलावा एक लर्नर या ट्रेनी (प्रशिक्षु) बिजनेस मैन का भी है। पर उस पक्ष की जरूरत से भी कम ही चर्चा की गई है। हां, एक और अप्रत्याशित प्रसंग उनके नक्सली चरित्र को लेकर यहां जरूर है जिसके कारण उन्हें कुछ समय के लिए कलकत्ता छोड़ना भी पड़ता है, बशर्ते वे आगे जीना चाहते हों। मुनव्वर का झुकाव इधर क्यों हुआ होगा, इसे उनकी शायरी पढ़ने-सुनने वालों को बताने की जरूरत शायद ही पड़े। वे बेशक एक भरे-पूरे संवेदनशील इंसान हैं और कैसी भी अनीति और अत्याचार को लेकर चुप न रहने वाले आत्मकथा जाने-अनजाने इन बयानों से ओत-प्रोत है। न केवल राजनीति बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी मुनव्वर का व्यवहार उनकी इसी सरलता, दोटूकपन, साफगोई और इंसानीपन से भरा-पूरा है। अपने इन्हीं जज्बों के चलते, गदहपचीसी के उन दिनों में, ट्रांसपोर्टर के बेटे मुनव्वर अपने कुछेक करीबी दोस्तों के चलते आंशिक तौर पर नक्सल हो गए थे, जिसका कारण बताते हुए लिखा-बगावत और एहतिजाज तो बंगाल की आबोहवा में शामिल है। ईमानदारी की बात तो यही है कि अगर

खून में इतनी भी हिद्दत (गर्मी) न हो कि जुल्म के खिलाफ आवाज उठाना भी दुश्वार हो तो बंगाल छोड़ देना चाहिए।' पर बंगाल खासकर कोलकाता जो कवियों और शायरों की निगाह में गरीबनवाज और जज्बाती शहर है। फिर वहां का बंगाली समाज जो जितना तरल और मधुर है उतना ही कलाजीवी और सर्जना-समृद्ध भी। मुनव्वर तो उसकी तारीफों के पुल बांध ही चुके हैं, मैं खुद उनकी हां में हां मिलाता हुआ अपने पंद्रह-सोलह साल के बचपने, किशोर और प्रौढ़ दिनों की याद करता हुआ कह सकता हूं कि कोलकाता एक दुर्लभतम मिजाज वाला ठेठ देशी आत्मीय शहर है, जिसकी तुलना मुंबई या दिल्ली से संभव नहीं।

आत्मकथा में एक बड़ा हिस्सा उर्दू अदब और देश-विदेश में आयोजित होने वाले मुशायरों के माहौल और शामिल होने वाले शायरों की राजनीति और चरित्र को लेकर है। इनमें सबसे अहम किस्सा कतर के मुसीब भाई का है जिन्होंने शायरों और मुशायरों के सौंदर्य के लिए अपना रोम-रोम लुटाया। कभी इस बात की परवाह तक नहीं की कि वे लुट रहे हैं या लुटे जा रहे हैं। मुनव्वर राना ने उनके हवालों से जिन कई-कई किस्सों का बयान किया है, वे मार्मिक हैं। उन्हें ही उद्धृत करते हुए कहूं तो 'मुसीब भाई जैसे लोग अपने लिए पैदा ही नहीं होते। ऐसे लोग तो चने के खेत का नसीब लेकर पैदा होते हैं और मुख्तालिफ तरीकों से लोगों के काम आते हुए मर जाते हैं।' इसी प्रसंग में वे शायरों के बारे में जो टिप्पणियां करते हैं वे बेहद तीखी हैं-शायर से दूर रहकर शायरी का लुत्फ लिया जा सकता है' पर करीब पहुंचते ही उसकी शायरी भी घिनौनी दिखाई देती है और ऐसी सूरत में कय (उल्टी) के साथ-साथ आंते भी उलटने का खतरा पैदा हो जाता है।' यहां मुनव्वर यह नहीं भूले हैं कि वे खुद भी एक शायर हैं पर उनकी यह टिप्पणी कुछ हद तक आश्वस्त करती है कि सिर्फ अपने को बचाने के लिए कोढ़ के दाग की वकालत करना और बड़ा गुनाह है।' पर यही मुनव्वर जब शहर इलाहाबाद पर आते हैं तो शायरों, हिंदी लेखकों और कवियों को लेकर जो टिप्पणी करते हैं वह इसके उलट भी है। उनके अनुसार 'यहां इल्म की गर्मी और अदबी सरगर्मी को जिंदा रखने' के लिए इलाहाबाद एक ऐसा ठिकाना है जहां इलेक्ट्रिक सप्लाई वालों की मुस्तकिल नाफरमानी के बावजूद इस शहर में हर वक्त उजाला रहता है। उन्हें विश्वास है कि इतने सारे हिंदी-उर्दू के लेखकों, कवियों, शायरों के रहते इस अदबी चौपाल की रौनक कभी कम नहीं हो सकती। मजेदार बात यह है कि आनंद भवन, जवाहरलाल नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री को याद करते हुए वे क्रांतिनायक चंद्रशेखर आजाद को कैसे भूल गए? नक्सल आंदोलन में एक सिंपथाइजर की भूमिका निभाने की याद करने कराने वाले शायर को आनंद भवन के साथ अल्फ्रेड पार्क क्या याद नहीं आया। संभव है यह अनजानी भूल हो। यों चर्चा उन्होंने जिन्ना और इकबाल की भी की है पर संदर्भ बंटवारे का है। यह उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। बंटवारे का दर्द उनकी आत्मा का दर्द है जिसकी छाया पूरी किताब में शुरू से लेकर आखिर तक फैली हुई है।

आत्मकथा में जो एक बात अहम दर्द के साथ बार-बार किसी पुराने रिसते घाव की तरह उठाई गई है वह मुल्क का बंटवारा है, जिसे मुनव्वर जैसे शायर किसी पल भी भूल नहीं पाए हैं। यह गैर वाजिब भी नहीं है क्योंकि इससे सिर्फ देश की धरती नहीं बंटी, परिवारों का भरा-पूरा खुशगवार इलाका और दिलों का मौसम भी बेरहमी से बंट गया। अब अपने ही लोगों से मिलने के लिए अब्बा और अम्मी से नहीं, उन सरकारों से पूछना और आज्ञा लेनी पड़ती है जो इस प्रकार के बंटवारों की जिम्मेदार और अपराधिनी हैं।

आत्मकथा में तीन-चार ऐसी जगहें भी हैं जहां मुनव्वर बेहद सख्त और तीखे हो उठे हैं। खासकर उर्दू की आलोचना (तन्कीद) और सरकारी उर्दू अकादमियों को लेकर। इनकी वास्तविकता क्या है, मुनव्वर भाई उन दोनों संस्थानों से क्या अपेक्षा रखते हैं, खुद लेखक के अपने अनुभव क्या हैं, जिनको आधार बना कर वे आलोचना पर उतरे पड़े हैं। इसका बहुत ज्यादा खुलासा तो वे नहीं करते फिर भी किसी भी हिंदी-उर्दू या अन्य भाषा और सरकारी संस्थान को अपनी कुछ सीमाएं तो बन ही जाती हैं। इसका एक बड़ा कारण वह व्यक्तित्वहीन और चरित्रहीन नौकरशाही है जो खुद एक गुलाम मानसिकता के ही बल पर अपनी सफलताओं की सीढ़ियों को सुरक्षित समझने के आदी रही है। दूसरी तरफ कला और साहित्य की दुनिया बगैर स्वाधीनता और भरपूर स्वतंत्रता के खड़ी ही नहीं हो सकती। हिंदी के एक लेखक के अपने अनुभवों के बल पर कह सकता हूं कि इन संस्थाओं में पूर्व निर्धारित कर्मकांडों की खानापूर्ति का लक्ष्य अधिक है किंतु अभिनव रचनाशीलता पर निगाह रख उसे परंपरा की उत्तराधिकारी समझने और मानने का साहस मन लगभग नहीं ही होता। शेष बातें जिनका संबंध निजी स्वार्थों से कहीं अधिक होता है, वे इतनी सुरक्षित रहती है कि नवाचार करने की वैसे भी जरूरत महसूस नहीं होती। इन बातों को जरा खुद मुनव्वर भाई की जफबान से भी समझिए- ''मेरे स्कूल के सामने ही काजिम होटल था जहां हर वक्त शहर के नवमश्क शायरों और अदीबों की भीड़ लगी रहती थी। उस वक्त तक शायरों की सलाहियतों (गुण) का फैसला खुद शायर किया करते थे या सुनने वालों की राय से होता था। उस वक्त तक उर्दू एकेडमी की म्युजिकल चेयर का कोई वजूद नहीं था। उस वक्त अदब को सियासत के सामने सर झुका कर गुफ्तगू नहीं करनी पड़ती थी। उस वक्त तक अदब में माफिया राज का सिलसिला नहीं शुरू हुआ था।''

लेखक यही नहीं रूकता वह आगे एक और क्षोभयुक्त व्यंग्य पर उतर बेहिचक यह कह

डालता है- 'अच्छा हुआ गालिब और मीर बहुत पहले मर खफ गए वर्ना अपने-अपने मुसव्विदे (अप्रकाशित रचनाएं) लेकर उर्दू एकेडमियों के चक्कर लगाते रहते और सेक्रेटरी और चेयरमैन के इंतजार में पान, बीड़ी की दुकान पर खड़े दिखाई देते।' उस जमाने को याद करके वे एक भारी भरकम वाक्य लिखते हैं 'उस वक्त शायर अपने कलाम की रोशनी में बड़ा शायर कहलाता था।'

वैसे तो यह हकीकत केवल उस वक्त की नहीं बल्कि आज भी है ही, हां पर थोड़ी देर तो लगती अवश्य है। पहचाना और याद किया आज भी वही जाता है जो सचमुच का शायर है। ऐसे सचमुच के शायरों की पहचान मुनव्वर के अनुसार उसकी जनप्रियता से की जानी चाहिए।

यों तो आधुनिक उर्दू शायरी सभ्यता के नए सलीकों और जमाने के बदलते संबंधों और मूल्यों की भी खूब खोज-खबर रखती है पर मुनव्वर का अपना भरोसा उन परंपरागत सामंती मूल्यों और उनसे जुड़े जज्बों में भी कम नहीं है जिन्हें कुछ समझदार किस्म के लोग शायद शायर की भावुकता कह दरकिनार कर दें। फिर भी मुनव्वर जैसे शायरों को इसकी परवाह कहां है! एक जमाने में नक्सलियों के हमदर्द और उनकी दुनिया से निकटता रखने वाले मुनव्वर आज की मोबाइल परस्त पीढ़ी को लेकर किंचित मुरझाहट से भी भरे हुए हैं। ग्लोबल बाजारों को लेकर तीखे और आलोचनात्मक भंगिमाओं से भरे हुए मुनव्वर, प्रौद्योगिकी प्रसूत बाजारू सभ्यता से नाराज वे लगभग उस पिछले जमाने में बार-बार जाते, शरण खोजते और लेते दिखते हैं जो मानवीय संबंधों की खूबसूरती, भरोसे और उष्मा से भरा हुआ था। शायद यही वजह है कि उनकी यह आत्मकथा जमाने भर की उम्दा और मुहब्बती शख्सियतों की याद का ठिकाना बनती गई है। इस कोशिश में कुछ के चरित्रों की विलक्षणताओं को भी याद करना वे भूले नहीं हैं। ऐसे एक शायर का किस्सागो उठना भी हमें महसूस होता है। लगता है यहां किस्सागोई के कई-कई झरने फूट पड़े हैं पर ये किस्से महज किस्से भर नहीं हैं। इनमें एक शायर की गाहे-बगाहे मौजूदगी इन किस्सों को अधिक काव्यात्मक बना देती है। असल बात तो यह कि मुनव्वर के व्यक्तित्व में रसमयता शब्द-शब्द में छलक पड़ा है। या कहें कि किताब एक पोयटिक प्रोज या फिर गद्य में लिखी गई कविता लगती है।

रायबरेली के गजल गांव को ग्लोबल विलेज के प्रतिपक्ष की तरह रचते हुए आत्मकथाकार ने लखनऊ, कोलकाता, दुबई-कतर, इलाहाबाद, हिंदू-दोस्तों जिनमें अदम गोंडवी जैसे लोकप्रिय हिंदी शायर, ए. पी. मिश्रा जैसे दिलदार अफसरों रुदौली अमरोहा के शायरों और न जाने कितने दीवानगी से भरे लोगों का एक ऐसा मेला सा यहां लगा दिया है जिसमें हर-एक को उसकी अपनी शख्सियत मिल गई है वो चाहे आज के तरूण विजय हों या फिर ब्रजवासी मठाधीश बड़े ठाकुर।

यहां हिंदू मुसलमान इस तरह घुले मिले हुए हैं जैसे हिंदी में उर्दू और उर्दू में हिंदी की मिठास का सौंदर्य घुला-मिला हुआ है। सच तो यह कि मुनव्वर पक्के मजहबी होकर भी एक हर दिल अजीज हिंदुस्तानी शायर हैं जिसका पेशा लोगों के दिलों में मोहब्बत पैदा करना और ग्लोबल सभ्यता के हंगामों के बीच देशज अस्मिताओं की खूबसूरती को रेखांकित करना है। इसमें चरित्र और अनुभवों की विविधता ही नहीं है, वह आधारभूत गहरी एकता भी है जिससे इंसानियत की पहचान की जाती है। रौ में बहते हुए कहीं-कहीं वे जनमोर्चा के संपादक शीतला प्रसाद सिंह को शारदा प्रसाद लिख गए हैं पर कौन नहीं जानता कि बगैर शीतला बाबू के फैजाबाद की जनधर्मी पत्रकारिता की पहचान संभव नहीं है।

उर्दू आलोचना की औरंगजेबी तबीयतों को लेकर जरूर वे क्षुब्ध और परेशान कम नहीं है पर मुजफर हनफी गोपीचंद नारंग जैसे आलोचकों के प्रति उनके मन में कम सम्मान का भाव भी नहीं है। वे मानते हैं कि आलोचक का काम सृजनशीलता के सौंदर्य रहस्यों की व्याख्या करना है, न कि शायरी पर कंट्रोलिंग अथॉरिटी बन कर बैठ जाना है।

समूची आत्मकथा उर्दू जबान की रवानगी और मुहावरों से इतनी सजी-संवरी है कि ढूंढने पर भी शायद कोई एकाध सीधा-सपाट वाक्य मिले। ऐसा लगता है आत्मकथाकार ने जैसे गद्य को ही शायरी में ढाल दिया है। किसी जमाने हिंदी में एक दो ऐसे गद्यकार शायद होते थे पर उर्दू तो वैसे भी जरूरत से ज्यादा शिष्टता और तकल्लुफ की भाषा रही है। जज्बों की जुबान तो है ही। अब अगर मुनव्वर जैसे चौबीसों घंटे के शायर उसे मिल जाएं तो फिर तो चार चांद ही लग जाएंगे न।

यह तो पहले ही कहा जा चुका कि यह सिर्फ एक शायर की आत्मकथा नहीं शायर के बहाने समूचे जमाने की कथा है। मुनव्वर खुद भी मानते हैं कि एक शायर को बनाने में समूचा जमाना, धरती और आकाश, हवा-पानी सब एकजुट होकर लगते हैं। तब यह केवल उसके अकेले की हो कैसे सकती है?

मुनव्वर ने इस जमाने को अनेक कोणों, स्तरों और रंगों में देखा है। उसी सबका बयान तो यह आत्मकथा है। पुस्तक का मूल स्तर प्रशंसाओं की कुतुबमीनार खड़ा कर उसे ताजमहल की खूबसूरती में तब्दील कर देना है। इसके लिए मुनव्वर राना जैसे शायर को जितनी बधाई दी जा सके, दी जानी चाहिए, यह भी सच है।

निश्चय ही यह हिंदुस्तानी शायर की हिंदुस्तानी जबान में लिखी गई कथा है। हिंदुस्तान और हिंदुस्तानीपन को जानने-समझने और महसूस करने की गरज से इसको इतनी ही आत्मीय उष्मा से पढ़ा भी क्यों नहीं जाना चाहिए। ■

दुख ही जीवन की कथा रही

रेवतीरमण शर्मा
आलोचक

संपर्क : 49, मधुबन कालोनी
अलवर-301001, (राजस्थान)

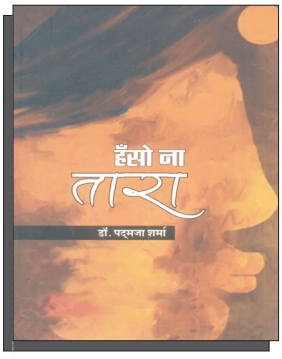

पुस्तक : हंसो ना तारा
लेखिका : डॉ. पद्मजा शर्मा
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर
पृष्ठ : 112
मूल्य : ₹ 110

स्त्री-विमर्श के लिए अपनी पहचान बनाने वाली डॉ. पद्मजा शर्मा द्वारा परंपरागत कविता-कहानी के इतर रेखा-चित्र, शब्द-चित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण और डायरी विधा में अप्रतिम प्रयोग किए गए हैं। इन सभी को समेटे उनकी ताजा पुस्तक आई है 'हंसो ना तारा'। इस पुस्तक में समाहित स्केचेज (दृश्यचित्र या रेखाचित्र), लघुकथाएं, साक्षात्कार कहीं न कहीं भयावह रोगों से पीड़ित लोग, विशेषकर महिलाएं-स्त्री विमर्श की भाव-भूमि के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती हैं। इनमें कोढ़, एचआईवी, टीबी, कैंसर आदि रोगों से ग्रसित स्त्री, पुरुष और बच्चों की त्रासद कहानियां हैं। डॉ. पद्मजा शर्मा द्वारा उनसे लिए गए साक्षात्कार पाठक को उद्वेलित करते हैं और तब विशेष, जब उन्हें उनके परिजन ही अवसादग्रस्त अवस्था में घर परिवार से परित्यक्त कर देते हैं। इन शब्दचित्रों को पढ़ने से लगता है जैसे सारे मानवीय मूल्य और सामाजिक सरोकारों से हमने मुक्ति पा ली है।

ये लघुकथाएं, शब्द चित्र अथवा कोई संस्मरण घर बैठकर नहीं लिखे गए हैं। लेखिका ने व्यक्तिशः कोढ़ के अस्पतालों, एचआईवी के केंद्रों पर हर स्थिति के रोगियों के दुख-दर्द, तकलीफों का रू-ब-रू आकलन किया है। पात्रों के जो नाम इन शब्दचित्रों में अंकित या चित्रित किए गए हैं वे जरूर काल्पनिक हैं, इसलिए कि पात्रों के नाम उजागर होने पर उन्हें समाज में किसी तरह की परेशानी न झेलनी पड़े। उन्हें समाज की उपेक्षा न मिले। अन्यथा बाकी सब सच है। यह किसी साक्षात्कार का समस्त सच है, क्योंकि पात्रों ने लेखिका को अपने साक्षात्कार में बताया है, इसलिए अनुभव और सत्य को प्रमाणित करने का प्रश्न कहीं उठ खड़ा नहीं होता।

डॉ. पद्मजा जब भी किसी कुष्ठ रोगी, एचआईवी पीड़ित से बात करना चाहती हैं पहले वे अपने हाथ से उस पर सहानुभूति का मरहम लगाती हैं और जब अपनापन अर्जित कर लेती हैं, तब वे चुपके से प्रश्न उठाती हैं कि वे किन-किन कष्टों, दुर्दैव और दैन्य से गुजर रही हैं। जो भी उत्तर आते हैं वे लेखिका की सहृदयता, प्रेम, सहानुभूति के चरखे पर आत्मीयता के धागे में लिपटे आते हैं। वे तसल्ली से कुष्ठ रोगियों, एचआईवी, टीबी और दूसरे इसी तरह के रोगों से ग्रस्त रोगियों से आत्मीय संबंध स्थापित करती हैं तथा यह बात खोज निकालती हैं कि परिजन उनका कैसे सामाजिक बहिष्कार करते हैं। एक बार अस्पताल में भर्ती होने पर उनकी खैर खबर लेने नहीं आते। उन्हें आर्थिक विपन्नता के साथ सामाजिक, पारिवारिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता है। अक्सर कोढ़ी ठीक हो जाते हैं लेकिन परिजन उन्हें इसलिए नहीं अपनाते कि संपत्ति में उनके दाय को देना होता है। परिजन उनकी संपत्ति के हिस्से को खुद रख लेते हैं और उन्हें बहैसियत कोढ़ी ही घर से निकाल देते हैं। इस प्रकार इनकी कोई सामाजिक सुरक्षा नहीं होती। या तो ये आजन्म अस्पतालों में पड़े रहते हैं या भीख का पात्र इनके हाथ में आ जाता है।

एचआईवी रोगियों को सरकारी अस्पतालों में प्राथमिक उपचार ही उपलब्ध हो पाता है। द्वितीय दर्जे की महंगी दवाएं उन्हें नहीं मिल पाती हैं। परिणामतः उन्हें मौत के मुंह में जाने से नहीं रोका या बचाया जा सकता है।

राधा एचआईवी पीड़िता है। उसे और उसके बच्चे को यह बीमारी उसके पति से पहुंची है। उसका कहना है पति 'दूर' पर रहता था। टाइफाइड हुआ, सुई लगाई गई और पति को बीमारी लग गई। पति चला गया और पति का जाना ऐसा था जैसे उसके पैरों तले से जमीन चली गई। सामाजिक प्रताड़ना इतनी कि परिजन या कोई भी व्यक्ति उनसे बोलना नहीं चाहता। सामाजिक सरोकार तो बाद की बात है। वह भी दुनिया से जल्दी ही चली जाएगी पर सखेद वह लेखिका से कहती है कि 'मैं फिर से जन्मूंगी अपने बच्चों की हंसी के लिए'। यह सब पाठक के लिए भी पीड़ादायी है जिससे उसका मन रोगी की सहानुभूति से आप्लावित हो जाता है।

एक दूसरा छायाचित्र है जो एड्स की बीमारी से जुड़ा है। 'हंसो ना तारा' की तारा लेखिका को मुखातिब हो बताती है कि उसका पति दाढ़ी बनवाने गया था, कट लग गया और रोग साथ ले आया। वह किसी दूसरी औरत के पास नहीं गया। तारा को भी इस रोग ने नहीं बख्शा। तारा लेखिका से बतियाकर रिलेक्स महसूस करती है पर दुखी मन बताती है-उसके बेटे को

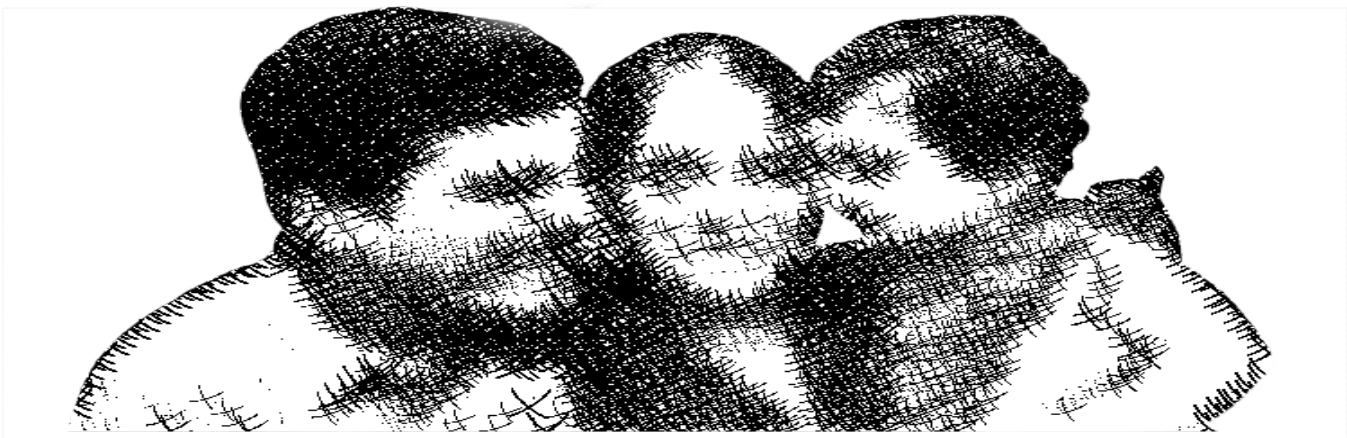

भी एचआईवी यानी एड्स ने दबोच लिया है। वह बेटे का ब्याह नहीं करेगी। किसी की बेटी का भविष्य बरबाद नहीं करेगी। वह किसी को धोखा नहीं देगी। तारा लेखिका के सद्व्यवहार के कारण बताती है कि इस रोग का भारी खर्चा है। सरकार कुछ खर्च उठाती है। अंततोगत्वा मैयत ही उठती है।

डॉ. पद्मजा के ये लघु आलेख देश-दुनिया के लोगों को न केवल सहानुभूति से भर देते हैं अपितु इन बीमारियों के फैलने से रोकने के सामाजिक दायित्वों से पाठकों को शिक्षित भी करते हैं। लेखिका को इन समाज बहिष्कृत रोगियों के बारे में डॉ. चंदौरा बताते हैं कि गांव वाले इनके हाथ का पानी तक नहीं पीते हैं। जबकि सचाई यह है कि कुष्ठ, एचआईवी, कैंसर आदि छूत के रोग नहीं हैं, इन्हें (non-communicable) कह सकते हैं। इन रोगियों के दर्द से, पीड़ा से सामाजिक संलिप्तता के अभाव से और इनके अकेलेपन से पाठक अपने मन में दुखी महसूस करते हैं। 'पीड़ाएं मरती नहीं जगह बदलती हैं' और 'दान की बछिया' जैसे शब्द चित्र पाठक के मन पर खरोंच बनाते हैं। वे सोचने पर विवश होते हैं कि आजादी के 70 वर्ष बाद भी गरीब असाध्य बीमारियों से ग्रस्त बीमारों से हमारा कैसा व्यवहार है?

दान की बछिया ऐसी ही एक कारुणिक (पैथेटिक) लघु कथा या रेखाचित्र है। लीलादेवी घूंघट में रहती है। लेखिका उससे पूछती है -'यहां तो मेरे अलावा दूसरा कोई नहीं है। घूंघट हटा सकती हैं।' लीला देवी जवाब देती हैं -'औरत का मुंह ढका रहे तो अच्छा है।' 'अच्छा क्यों?' 'किसी की नजर न पड़ जाए।' लेखिका फिर प्रश्न करती हैं, कहती हैं 'मैं तो घूंघट नहीं काढ़ती?' उत्तर मिलता है 'आप तो पढ़ी लिखी हैं।' 'अनपढ़ पुरुष भी तो हैं। वे तो नहीं निकालते घूंघट? 'लीला देवी जवाब देती हैं।' 'दुनिया मर्दों की है। वह अकेली नहीं रह सकती। मर्द नंगा भी खड़ा होगा- मुंह फेर कर चल देगी दुनिया, पर औरत नंगी हो जाए तो भीड़ उस पर टूट पड़ेगी।' लगता है हमने अभी सामंतवाद पर विजय नहीं पाई है।

डॉ. पद्मजा जब भी किसी कुष्ठ रोगी, एचआईवी पीड़ित से बात करना चाहती हैं पहले वे अपने हाथ से उस पर सहानुभूति का मरहम लगाती हैं और जब अपनापन अर्जित कर लेती हैं, तब वे चुपके से प्रश्न उठाती हैं कि वे किन-किन कष्टों, दुर्दैव और दैन्य से गुजर रही हैं। जो भी उत्तर आते हैं वे लेखिका की सहृदयता, प्रेम, सहानुभूति के चरखे पर आत्मीयता के धागे में लिपटे आते हैं। वे तसल्ली से कुष्ठ रोगियों, एचआईवी, टीबी और दूसरे इसी तरह के रोगों से ग्रस्त रोगियों से आत्मीय संबंध स्थापित करती हैं तथा यह बात खोज निकालती हैं कि परिजन उनका कैसे सामाजिक बहिष्कार करते हैं।

कुष्ठ, कैंसर, एचआईवी जैसी जानलेवा बीमारियों से ग्रसित रोगियों के शब्दचित्रों, कथानकों से गुजरते हुए मुझे पश्चिम बंगाल के विख्यात कवि जीवनानंद दास की एक कविता याद आती है। जीवनानंद दास ने सिर्फ प्रकृति की कविताएं ही नहीं लिखी हैं बल्कि कोढ़ी, भिखारी, मच्छर के प्रति भी उनकी करुणा उपजाती है। वे एक रोगी के लिए 'एक करुण संतरा' बनकर आने की बात करते हैं। कहते हैं -

''देह छोड़कर एक दिन चला ही जब जाऊंगा,
आऊंगा लौटकर नहीं क्या मैं पृथ्वी पर
आऊं तो आऊं मैं
किसी एक जाड़े की रात में
प्राणों के लिए निकल परिचित
एक रोगी के बिछौने के पास ही
रखा हुआ टेबल पर अधखाया ठंडा
एक करुण संतरा बनकर।'' (संक्षेप में)

('मायावी कविता का कवि' जीवनानंद दास-लेखक : निशांत, प्रगतिशील वसुधा 94, पृ. 171)

पुस्तक के शेष शब्दचित्र, रेखाचित्र भी पठनीय हैं। समस्त आलेख बहुत पहले लिखे गए, लेकिन आज भी इनमें वर्णित पीड़ा हमें भीतर तक छू जाती है और सोचने को विवश करती है कि आखिर कब तक एक आदमी दूसरे आदमी को तड़पते-मरते हुए देखता रहेगा। कब तक यह सिलसिला चलता रहेगा कि 'करे कोई भरे कोई'। कब तक स्त्री की चीख अनसुनी रहेगी। ■

बे पंख सिलसिले तमाम

■ चंद्रकला त्रिपाठी
साहित्यकार

संपर्क : प्राचार्य
महिला महाविद्यालय
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

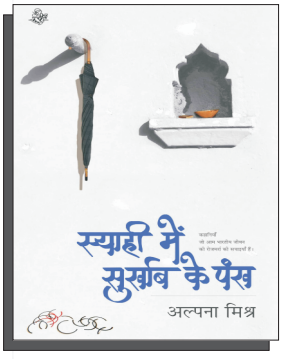

पुस्तक : स्याही में सुर्खाब के पंख
लेखिका : अल्पना मिश्र
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 128
मूल्य : ₹ 125

'स्याही में सुर्खाब के पंख' अल्पना मिश्र का नया कहानी संग्रह है जिसमें कुल सात कहानियां हैं। लगभग सभी नितांत मामूली सपनों का पीछा करते मद्धिम उड़े हुए रंगों वाले जीवन प्रसंगों के किरदारों, स्थितियों की कहानियां भी हैं। स्त्रियां कई रंग की हैं। मामूली स्कूल मास्टरनियां, जिंदगी और सपनों के बीच की फांक को शिद्दत से समझने वाली स्त्रियां, स्कूल-कॉलेज की लड़कियां, किन्हीं नीली धारियों में शिद्दत से अटक गए 'कुछ' को महसूस करने वाली प्रेमिकाएं वगैरह। इन कहानियों में 'बार-बार देखा गया एक ख्वाब' है। इन स्त्रियों में एक गड्ड-मड्ड समय को जो पक्के तौर पर प्रेम विहीन भी है, बड़े लद्धड़ ढंग से पार करने की कोशिशें हैं। जड़ताओं और अवरुद्धताओं से भरे उसे परिवेश में जीवन को नया करने वाली सारी गतियां निस्पंद हैं। एक सुस्ती भरी सी जिंदगी है जिनमें स्त्री विरोधी कई-कई घटनाएं मर्द समय के रूप में चर्चित हैं। कुरुचियों से भरी उत्तेजनाएं, गप्पें और मजे लेने की परपीड़कता ही उन कस्बों का मनोरंजन है। सब अपने-अपने ठिकानों से इस निर्लज्जता का निर्वाह करते से दिखते हैं और जाहिर तौर पर किसी भी सक्रिय जवाबदेही भरी सामाजिकता से खाली हैं। इस तरह इस संग्रह की कहानियों में परिवेश, स्थितियां और किरदार निम्न मध्यवर्गीय स्टीरियोटाइप्स का बहुत सूक्ष्म और पारदर्शी आलोचनात्मक पाठ रचते हैं। इनमें बार-बार स्त्री के जीवन को सक्रिय सामाजिकता से रिक्त कर खत्म कर देने वाली नृशंसताओं के गहरे भिदे हुए आशय मिलते हैं। खासकर कामकाजी स्त्रियों के जीवन की बहुत सीमित घुटनभरी स्थितियों की सारी विडंबना को उधेड़ देने का यथार्थ यहां है। ऐसा हर बार इसलिए है कि एक व्यापक परिवर्तनों से भरी दुनिया में स्त्री की मौजूदगी को कतर देने वाली लंपट मर्दानगी भरी अश्लीलताएं चारों तरफ काबिज हैं। कई बार अल्पना मिश्र के स्त्री किरदार इन स्थितियों में खप जाने से उलट भी जीने का कोई ढंग चुनना चाहते हैं। मगर उनकी अतिरिक्त संवेदनशीलता की जांच प्रक्रिया बड़ी पक्की है और उन सारे संदिग्ध को फिल्टर कर किन्हीं सूक्ष्मताओं की ओर निकल जाते हैं। लेखिका के लिए स्त्री विमर्श द्वारा हासिल प्रतिरोध या संघर्ष की डिजाइनें अकसर बहुत अपर्याप्त हैं। उसमें जीवन की पेचीदा मौलिकताओं का पीछा करने की लगन भी भरपूर है इसलिए वह स्त्री मुक्ति की प्रचलित आजमाइशों से सचेत तौर पर बचती दिखाई देती है।

अल्पना मिश्र के कथा संसार में मर्द दुनिया की निरंकुश व्याप्ति की तमाम कठिन परते हैं। इनमें अनुभवों की प्रगाढ़ता अत्यधिक है। वे अकसर एक घिसटते हुए से कस्बे का दुहरावों से भरा अनाकर्षक लोकेल चुनती हैं जिसके चारों तरफ विकास योजनाओं पूंजी की जगमगाहटों से भरी दुनिया की रफ्तारें बदस्तूर हैं। इस कस्बे की स्थानीय रंगतों को उभारना लेखिका का एक बहुत सोचा समझा ढंग है। देश की विशाल आबादी के घिसटते हुए निर्वाह का क्षेत्र यही है। महानगरों की तेजी के अगल-बगल उंघते हुए से ये कस्बे ही नई दुनिया के सारे दावों को खत्म कर देने वाली सड़न को संभालकर रखते हैं। लेखिका पितृसत्ता की संरचनाओं को उघाड़ने से ज्यादा जोर मर्दवादी अमानुषिकताओं को रेखांकित करने पर देती हैं। हालांकि कहीं गहरे यह पितृसत्ता की ही निर्मितियां हैं मगर उत्तर आधुनिक पूंजी समय द्वारा उगली जा रही विकृतियां स्त्री अस्मिता को ज्यादा खतरनाक ढंग से रिड्यूस करती हैं। इन कहानियों का यथार्थ बेहद मामूली जिंदगियों के बहुविध रंगों से भरा हुआ है। इसके भीतर एक सुस्त सी रूटीन है। इसी बेरौनक उधड़े हुए रंग में प्रेम का भी एक रंग है। अल्पना मिश्र के यहां 'प्रेम' एक ऐसा गहरा व्यंजित बन जाता है कि प्रेमी जोड़ों का संदर्भ बनते कई-कई किरदारों की उदास भयातुर आत्माओं में झांकने की जगह देता है। सोनपति बहिनजी का जीवन ऐसा ही है। चार स्त्री संतानों की मां, जिसे दियासलाई की तीली में सबकुछ बचाकर चलने का विकल्प भर मिला है। वह एक चौकन्नी और बेहद हड़बड़ाहट से भरी स्त्री है जो स्त्री के लिए एक यातनापूर्ण कठिन पाठ दियासलाई की तीली की जलती हुई छुअन में संभालती है। इसी कहानी में वैशाली चड्ढा हैं जिन्होंने 'प्रेम' के लिए भागने की क्रिया साबित कर कस्बे के सारे मां-बाप को सांसत में डाल दिया है। उधर कस्बे की उस मामूली रंगत वाली जिंदगी में लड़कियां, लडकों के भीतर कितना चड्ढा है, यह परखने पर आमादा हैं। चड्ढा, लड़कियों

का एक मनभाया स्वप्न है। माचिस की डिबिया ही इस उड़ान का इलाज है, ऐसा सोनपति बहिन जी को लगता है। निरूपमा दी भी सूरज कुमार में चड्ढा का साहस देखना चाहती भी मगर सूरज कुमार ने मुंह मोड़ लिया और वे पूरे कस्बे की अश्लील प्रवृत्तियों के निशाने पर आ गईं। कस्बे में निरूपमा दी, लड़कियों का या सोनपती देवी का पक्ष इज्जत का पक्ष नहीं है। इज्जतदार ठाकुर बलवान सिंह हैं जिनका लंपट बेटा अपने शोहदे साथियों के साथ निरूपमा की इज्जत तार-तार करता है। वह दरोगा भी बेहद पीटा जाता है जिसने निरूपमा की बेइज्जती करने वाले शोहदों को जेल भेजा था। बाकी कस्बे में दुकानदारों, पड़ोसियों, इज्जतदारों को कोई झमेला नहीं चाहिए। निरूपमा का खून से लिखा खत चौराहे पर पढ़ा जाता है। इस तरह निरूपमा का 'प्रेम' सावर्जनिक मनोरंजन का विषय बन जाता है।

सोनपति बहन की चारों लड़कियां जल मरी हैं। कस्बे की सारी लड़कियों की मुक्ति एक सपने में खुलती है। वे एक सुंदर खुले हुए मौसम के देश में जाने के लिए ट्रेन पकड़ती हैं और पूरा का पूरा कस्बा उन्हें और जलील कर खत्म करने के लिए उनका पीछा करता है। 'चीन्हा-अचीन्हा', 'नीड़', 'सुनयना, तेरे नैन बड़े बेचैन' और 'इन दिनों' जैसी कहानियों में भी स्त्री के लिए यातनाघरों के कई-कई रूप हैं। वहां मनुष्य होने के अवसर कहीं नहीं, बुद्धि, क्षमता, सौदर्य और सलीका सबके सब उनके काम आते हुए गुण हैं जिन्हें इन वजूदों की रत्ती भर परवाह नहीं। इन कहानियों में स्त्रियां ही स्त्रियों का संदर्भ हैं। इसमें भारी संघनन और वैविध्य भी है। स्त्री दमन के संदर्भ की एक व्याप्ति इन जिंदगियों से उभरती है और फिर यह तकलीफों के एक कोरस स्वर की तरह बन जाता है। परिवार गृहस्थी अथवा पति-पुरुष के रवैयों के भीतर धंसी नृशंसता में हिस्सेदारी करते समाज के ज़िक्र यहां है। स्त्री के लिए होकर जीने वाले पुरुष इस समाज में परिहास के पात्र हैं और स्त्री को उसकी औकात में रखना पौरुष है। इस तरह कठोर निर्दयता को वैधता मिल जाती है। स्त्रियों को गंभीरता से न लेने का चलन तब एक स्वाभाविक व्यवहार है। 'राग-विराग' शीर्षक कहानी में महिला महाविद्यालय का क्लर्क और चपरासी मनीराम तक मर्द होने की ठसक में इस कदर हैं कि कॉलेज की छात्राओं की क्या बात कहें अध्यापिकाओं तक के वजूद की उसके लिए कोई गिनती नहीं है। इस प्रपंच में केवल स्त्री विरोधी संदर्भों की टोह नहीं है बल्कि वर्चस्व की निरंतरता भरी संरचनाओं की पहचान भी है। 'और इन दिनों' शीर्षक कहानी तो इस निरंकुश निर्दयता का चरम है। रिटायर्ड पति अपने चुस्त शरीर और खान-पान की कवायद में पिला हुआ है मगर उसी उम्र की एक स्त्री अपनी बीमारी और कैसी भी मुहलत के लिए सोच भी नहीं सकती। उसकी आहों-कराहों से बेखबर पति अपनी नियमित दिनचर्या और सुख में हर वक्त का श्रम चाहता है उसके इष्ट मित्रों के पास भी बेरहम चुटकुलें हैं कि- 'जब औरतों का मन बाहर घूमने का करता है तो बीमारी का बहाना बना लेती है।' (पृ. 82)

यहां नाबालिग को बालिग बनाने वाली भौजियों का रस प्रसंग है। जाहिर है कि स्त्री इनके लिए नितांत अपरिचित विषय सरीखी है। उस पुरुष का विशेष यह कि वे पत्नी को रखने का ढंग जानते थे और यही उनका गुरूर था।

पत्नी हार्ट अटैक से मर जाती है। समय से अस्पताल आती तो बच जाती, ऐसा डॉक्टर कहता है, मगर समय से कैसे जातीं? उसकी जगह तो उनकी दुनिया में सबसे पीछे की थी। रिश्तेदारों से भी कम दर्जा मिला था पत्नी को। अंत तक वे इसी ठसक में रहते हैं कि वे अपने बूते रहते थे न कि पत्नी के बूते। ठीक यह जगह हैं जहां यह कहानी ऐसे संदर्भ के प्रचलित निष्कर्षों से अलग ढंग चुनती है। पुरुष के भीतर अंत-अंत तक स्त्री या कि अपनी पत्नी के लिए कुछ नरम महसूस करने का कोइ बदलाव नहीं है।

पति होने की इस ठसक के कई-कई प्रसंग कहानियों में है। परिवार और दांपत्य की क्रूर संरचनाओं द्वारा मर-खप या कि बदल जाने के लिए मजबूर केवल स्त्रियां हैं। इस तरह के परिवारों से भारतीय समाज खचाखच भरा है और ऐसी नृशंसताओं से भी। अल्पना मिश्र की कहानियां इसे भीतर धंसकर पकड़ती हैं। 'राग-विराग' शीर्षक कहानी में महिला महाविद्यालय की लड़कियां उछाह में सड़क का नियम तोड़ती चलती हैं। वे देशगीत में फिल्मी गानों को छुपा-मिला लेती हैं। उनमें से कोई घर का बर्तन-चौका, झाड़ू पोछा करके आई हैं। उनकी अध्यापिकाएं भी इसी से बेजार हैं। उनके लिए भी बाहर की दुनिया में उन्हीं दीवारों का विस्तार है और आर्थिक आत्मनिर्भरता का कोई अर्थ नहीं। लेखिका इस कहानी में स्त्री के लिए उस जरा से सुंदर मानवीय स्पेस को रच देती है जो मनीराम को छोड़कर सबको रूपांतरित कर गया है। अक्षम बच्चों के आश्रम का परिदृश्य सहसा सबको एक मानवीय चमक से भर जाता है। मुक्ति का ही एक अलग कोना 'नीला धारियों वाली कमीज' में भी है। श्रीपत के भीतर पड़ी हुई पत्नी की अच्छी छवि की आकांक्षा पहचानते ही स्त्री अपनी स्वाधीनता में लौट जाती है। वह जिस 'राग' में डूबने साथ होने के लिए आई थी, वह तो वहां था ही नहीं। 'चीन्हा-अचीन्हा' में भी दुख के भीतर ठिठकी स्त्रियां हैं। एक का दुख दूसरे से इतना मिलता जुलता है कि वह हैरान रह जाती है- 'इस दुनियां में किसी औरत के हिस्से बहुत खूबसूरत कुछ है भी।'

यहीं कुछ परायी दूर की दुनियां में खुला-खुला सा मानवीय और अकृत्रिम कुछ है। इस तरह इन कहानियों में किरदारों, स्थितियों को हमें उनमें मौजूद सूक्ष्मताओं समेत पढ़ना पड़ता है। इस तरह हर पाठ अपने समय की स्त्री विरोधी प्रवृत्तियों के जिंदा अनुभवों को खोलता दिखाई देता है। घटनाएं, दुर्घटनाएं, मृत्यु और हत्याएं भी स्त्री के लिए समाज के अमानुषिक रवैयों का पता देती हैं।

इसके भीतर ईर्ष्यालु रिश्तेदार, दग्ध पड़ोसी, ऐसे ही शहर या कस्बे के बांशिंदे, छोटे-बड़े रसूख वाले देखे गए हैं। स्त्री सामाजिकता का एक नामालूम सा पता भी कहानियों में कहीं-कहीं है। सुनयना... चीन्हा-अचीन्हा, राग-विराग और 'स्याही में सुर्खाब के पंख' में भी प्रेम या स्वप्न के लिए जगह निकालने की कोशिशों में इस साझेदारी की झलक है। सबका संघर्ष, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, कलह और मान-मर्यादा वगैरह से है। सभी स्त्रियां बहुत मामूली उड़ी-उड़ी सी हैं। 'असलीपन' की तीव्रता ही इन कथा अनुभवों की पूंजी है। अल्पना मिश्र की भाषा इन्हें इनकी जिंदा गति और स्वभाव में ऐसे रचती है कि लगता है हम बहुत करीब से उसे देख और सुन रहे हैं। यह नरक के रंग के दुख हैं तो सुख बेहद सकरा और कमजोर। स्त्री के लिए सहनशीलता भर जगह देने वाला समाज पुरुष को गैरजवाबदेही और क्रूरता में गढ़ रहा है। दांपत्य का यह दहला देने वाला उजाड़ है। महाक्षरण के इस परिदृश्य में व्यापक यथार्थ को अनुगूंजें भी हैं। प्रेम के चटख रंगों की सोख लेने वाली स्याही के कई-कई छाप इन कहानियों में है। खास यह है कि औसत से भी मध्यम स्त्री किरदारों में मजबूती की बेहद कम गुंजाइशों के सिलसिले हैं। सपनों को खाद-पानी मिलने वाली रियायतें तब हासिल हों जब यथार्थ की जिंदा रगों का महाकाव्यात्मकता तक खींचा जाए और वह मुमकिन नहीं है। जिंदा अनुभवों की ताकत से ही लेखिका इन तफसीलों को स्त्री विरोधी प्रवृत्तियों में हीं नहीं बल्कि मनुष्य विरोधी प्रवृत्तियों के रूप में पहचाने जाने तक ले आई है। स्त्री के लिए मैत्री और विश्वास का कोई भी रंग इस समाज में नहीं है। मर्दों की दुनियां की निरंकुशताएं ऐसी अपार हैं कि किशोरवय लड़के भी मर्द बनने के लिए आतुर दिखते हैं। सड़कें, चौराहे, स्कूल, रेलवे स्टेशन, अस्पताल, सब इन नुमाइश की जगहें हैं, अर्थ का विस्तार रचने या यथार्थ को जरूरी मूल्यदृष्टि तक विकसित करने का भी लेखिका का अपना ढंग है। सोनपति देवी जैसी पथराई हुई सी मां, जिसके भीतर मातृत्व की सारी स्वाभाविकताएं भयानक के असुरक्षाबोध की भेंट चढ़ गई हैं, और ऐसी ही कई स्त्रियां अपनी कठिन लड़ाइयों में व्यक्त हैं। इन लड़ाइयों की मुश्किल यह है कि स्त्री की शक्ति बनने वाले मूल्यों से समाज लगभग खाली है।

अल्पना मिश्र कथन की बारीकियां रचने वाली लेखिका हैं। उनकी भाषा का एक छोर पाठकीय अनुमानों में खुलता है और अपेक्षित संवेदनशीलता की मांग करता है। यह अवश्य है कि 'यथार्थ' रचने की ऐसी सूक्ष्मताएं कभी-कभी वर्णन को ढीला भी कर देती है। एक निरावेग मंथर गति वाली भाषा में कौतुक संभालने का भी लेखिका का अपना ढंग है। बेहद पस्त उदास चरित्रों की कॉमिक सी परिणतियां भी अकसर सधे हुए ढंग से उभरी हैं। अल्पना मिश्र की रचनात्मक निजता का बहुत कुछ उनकी कथाभाषा पर निर्भर है। कहा जा सकता है कि कहानियों पर लेखिका के रचनात्मक वैशिष्ट्य की छाप बहुत गहरी है। ■

औराही हिंगणा स्थित फणीश्वरनाथ रेणु का घर।

कश्मीर की वादियों से

■ **उमेश कुमार सिंह**
साहित्यकार

संपर्क : निदेशक
साहित्य अकादेमी,
मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद
संस्कृति भवन,
बाणगंगा परिसर
भोपाल-462001 (म.प्र.)

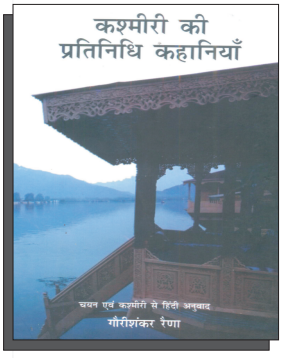

पुस्तक : कश्मीरी की प्रतिनिधि कहानियां
अनुवाद : गौरीशंकर रैणा
प्रकाशक : साहित्य अकादेमी नई दिल्ली
पृष्ठ : 183
मूल्य : ₹ 200

कश्मीरी की प्रतिनिधि कहानियां शीर्षक पढकर एकबार लगा कि यह शीर्षक कहीं गलत तो नहीं है किंतु गौर करने पर ध्यान में आता है कि यह कश्मीर की प्रतिनिधि कहानियां नहीं कश्मीरी की प्रतिनिधि कहानियां हैं जिनका कश्मीरी से हिंदी में अनुवाद किया गया है। कश्मीर भारत का सिरमौर है। इसकी प्राचीन भाषा संस्कृति और यहां की लिपि शारदा रही है। कश्मीरी उनको स्थापनापन्न कब कर गई। इसी से आज कश्मीरी, कश्मीरियत जैसे शब्द प्रयोग में आ गए हैं। इनकी सार्थकता पर भी विचार होना चाहिए। शारदा लिपि और संस्कृति की प्राचीनता को क्या कश्मीरी या कश्मीरियत बोध करा पाते हैं?

कहानियों के आधार पर विषयों की सार्थकता और उनके संदेश को देखना समीचीन होगा। अनुवादक स्वयं लिखते हैं, ''इस संलकन में संगृहीत कथाएं कश्मीरी कहानी की कथा-यात्रा को दर्ज करते हुए इसके आरंभ के दिनों से अबतक के प्रमुख कथाकारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कहानियों को कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत कर यह कोशिश की गई है कि इनके माध्यम से हम कश्मीरी समाज के बदलते इतिहास से भी रू-ब-रू हों। ये रचनाएं कश्मीरी समाज की आशंकाओं, इच्छाओं, चिंताओं तथा एक बेहतर जीवन की उम्मीद की कहानियां है। पिछले 65 वर्षों में लिखी ये कहानियां अपने समय की कथा-व्यथा कहने के साथ ही समाज की प्रकृति तथा चेतना का आईना हैं।''

यह तो हुई लेखक की बात। अब जरा कहानियों में अनुवादक के कथन की तलाश की जाए। नादिम की 'जवाबी कार्ड' तथा सोमनाथ जुत्शी की 'येलि फोल गाश' कहानियों को वे कश्मीरी की पहली कहानियां मानते हैं। किंतु उनमें से पुस्तक में जवाबी कार्ड को ही स्थान प्राप्त है। जुत्शी की दो अन्य कहानियों को स्थान मिला है। पहली कहानी से, सुना वासा! सुना तुमने। आज गुल का खत आया था। लिखा है 'उसने एक ही दिन में सतरह कबायली हमलावर मार गिराएं हैं!' 'जानती हो सोनमाली? गुल साहब ने मुझे एक जवाबी-कार्ड भेजा है। कितनी खूबसूरत लिखावट है। जैसे मोती जड़ें हों कागज पर!' 'जमाल मीरा! जमाल मीरा! हमारी सात पुश्तों का नाम किया है गुल बेटे ने। आज वह पूरे कश्मीर की हिफाजत कर रहा है।' और अंत में बेटे के शहीद होने पर 'कहा नहीं था वासा कि तू सठिया गया है! अगर अक्ल होती तो अब तक तहसीददार हो गया होता।' लोगों को संबोधित करते हुए 'देखो, गुल ने क्या लिया है! उसने मुझे औरतों के फौज में भर्ती होने के लिए वहीं बुलाया है।' कहानी लगभग साठ वर्ष पुरानी है। तब और आज के कश्मीर की न केवल भौगोलिक स्थिति को उजागर करती है बल्कि समूचे बदले मानस के अंतर को भी रेखांकित करती है। कल तक कबायिली दुश्मन थे, बेटा उनसे लड़ते मरता है और आज वहीं आतंकी कश्मीर के अंदर ही मारे जा रहे हैं जिसके बदले एक क्षीर्ण सी मरी आवाज राष्ट्रीयता के समर्थन में निकलती है। राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण में कितना परिवर्तन आया है, समझा जा सकता है। संकलन की 'मोगली गफार' कहानी भी कश्मीर पर हुए कबायली आक्रमण की पृष्ठभूमि की कहानी है। यह कहानी साठ के दशक में लिखी गई है किंतु आज भी कश्मीर जिस तरह से अंदर और बाहर लड़ रहा है उसे उजागर कर रही है। स्पष्ट है कि रोग पुराना है।

आस्तान की ड्योढ़ी पर। आस्तान की ड्योढ़ी रेख्ता में अर्थ है कुलीन जन की ड्योढ़ी किंतु उसका एक दूसरा अर्थ मौसम-ए-दिल जो कभी जर्द सा होने लग जाए। कहानी पढ़कर हमें यह अर्थ अधिक सार्थक लगता है। किसी न किसी कारण से पतियों से अलग हो गई औरतें, अपाहिज औरतें, अपाहिज पुरुष की धौंस में किसी न किसी प्रकार आती हैं। परिस्थितियों से मजबूर होने पर भी दिलों का एहसास शेष है। सामाजिक सरोकार की कहानी। पीड़ा को उजागर करती है। 'देखो हरामी बच्चा देखो... हरामी! हरामी! हरामी!' तभी कर्कश आवाज 'गर्वनर की मां को...', 'आस्तान की ड्योढ़ी पर कटता है इनका जीवन। लोग आते हैं और जाते हैं, परंतु यूं ही जीते हैं ये भिखारी एक अपनी अलग दुनिया में, निरंतर।'

'तूतन खामेन' अख्तर महीउद्दीन की कहानी मन-मस्तिष्क को झकझोर देती है। मनुष्य के धन पशु होने की कहानी। अपने अस्तित्व से अनभिज्ञ मनुष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए धन संचित करते हुए समाज की चिंता नहीं करता। पर पोते के लिए भी खजाना संचित करता है किंतु अंत में क्या होता है, 'आज जब पुरतत्वज्ञों ने वह सब खोल दिया, तो वहीं सोने के अंबार मिल गए और संभालकर रखे गए शव भी मिले। सोना तो सब पहचान गए, मगर कंकाल को देख कोई एक न जान सका कि उनमें से तूतन खमेन कौन-सा है।'

विषाद कहानी न केवल मनुष्य के चरित्र को उजागर करती है बल्कि पूरे पशु पक्षी समाज को उसकी संवेदनाओं की कठोरता को उजागर करती है। निःसहाय और निर्बल को सभी भक्षण करना चाहते हैं, ऐसे में मरणासन्न की अभिव्यक्ति देखें, 'अब मैं मरने जा रहा हूं। अलविदा! खुश हो गए तुम? ऐ इंसान, ऐ कुत्ते, ऐ चील, ऐ मुर्गियां खुश हो गए न तुम सब! मैं अब मर जाऊंगा। न बांग दूंगा और न अजब अंडे ही दूंगा। अब मैं कुछ नहीं करूंगा। मैं वही करूंगा जिससे तुम सब लोग खुश हो जाओगे। मैं मरूंगा- पिच...पिच...!' ठीक इसी तरह कुछ मिलते जुलते कथ्य को लेकर सामने आती है, बशी अतहर की कहानी 'मैं, हिम-पक्षी और वह काला कुत्ता।'

मुर्गे की लड़ाई कहानी समूचे भारत की सामाजिक परिवेश को समेटती है। भवानी भाई मुर्गे की लड़ाई सतपुड़ा के जंगलों में पाते हैं तो यह मुर्गे की लड़ाई कश्मीरी में लिखी जा रही है। एक जंगली परिवेश को, जातीय स्वाभिमान को उजागर करती है तो दूसरी दो औरतों के अहम की लड़ाई है जिसमें पशु भी मनहूस हो सकता है क्योंकि वह अपने समय में बोल उठता है। वह असंवेदना की पराकाष्ठा है कि उसका गला काटने को तैयार है। अंधविश्वास और मनुष्य के अहम को दिखाती कहानी सुंदर है। पचास के दशक की कहानी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। जिस तरह मुर्गे के लड़ाई का मूल दो औरतें हैं उसी तरह 'एक एहसास यह भी' एक युवक और एक युवती के इर्द-गिर्द घूमती है। पुरुष की सहनशीलता तो है ही, जैनेंद्र कुमार और मन्नू भंडारी की शैली याद दिलाती है।

आदमी के अकेलेपन के दर्द को उजागर करती है दीपक कौल की कहानी 'सफर तथा सफर का साथी'। कहानी का पात्र व्यदलाल जिसका अपना कुछ नहीं, अपनों का पता नहीं किंतु सभी चिंतित और दुखी हैं। वह कौन है, उसका परिचय है, 'व्यदलाल अक्सर, संध्या होते ही शिवालय में आता। प्रदक्षिणा लगाता, हुक्का पीता मगर बाबा से कोई बात नहीं करता। बहुत हुआ तो पूछ लिया, ''बाबा-जी आज भोजन किया। सर्दी लगती है। अंगरनाथ कब जाओगे।'' बस, बाबा का व्यदलाल से इतना ही संबंध था। उसकी मृत्यु हो गई। कहानी में एक दार्शनिक पक्ष भी देखें, 'आखिर बेचारा मुसाफिर ही बना रहा। इसने तोतकौल का घर भरने के लिए जन्म लिया था। वह भर दिया और अब खाली हाथ चल पड़ा। उसकी लीला भी अपरंपार है। किसको क्या करने भेजा, कौन जाने? कर्जा चुकाने आया था, चुका के चल दिया। ...कब जानता था कि आखिरी दिनों में दर-दर की ठोकरें खाता फिरेगा। बाबा, जिसके अपनी अक्ल काम न करे उसे दूसरा क्या समझाए।' 'मरीचिका' कहानी भी आत्मचिंतन को प्रेरित करती है। 'पुल' की कथा कुछ

फिल्मी अंदाज की कथा है। 'कंधा' कहानी उन मां-बापों की पीड़ा की संभावना समेटे कहानी है जिन्होंने अपने जिद को पूरी करने अथवा संतानों की जिद पूरी करने उन्हें विदेश भेजा। धन दौलत तो हैं किंतु चिंता है, अंत समय चिता या कब्र तक कौन ले जाएगा?

सत्तर से नब्बे की दशक की कहानियों की झलक देती कुछ कहानियां। 'छाया' कृष्ण रहबर की कहानी है। एक गंभीर तथ्य को समेटे कहानी उस नींव को स्मरण दिलाती है जिसके कारण न केवल भारत बल्कि सभी पड़ोसी देश परेशान हैं। पुरखों की लड़ाई। नाम की लड़ाई। दादा परदादों के अर्जित स्वाभिमान की लड़ाई। दासता और पराधीनता के व्यामोह की लड़ाई। अपने आप

से बात करती कहानी बहुत ही प्रासंगिक है। 'टूटन' कहानी का दर्द इतना जीवंत है कि पुरखों के बनाए घर को छोड़ने का दर्द, शून्य में भटकते भविष्य का खौफ, परिवार की असुरक्षा। न जाने कितनी कुशंकाओं, आशंकाओं को उभारती है। आज विभाजन की त्रासदी झेलती पीढ़ी देश में समाप्त हो रही है। हो सकता है उसके वंशज उस पीड़ा को एक दो पीढ़ी के बाद भूल भी जाए किंतु कश्मीर के विस्थापित नागरिकों को अभी पीड़ा कब तक सताएगी, कौन जानता है। एक आदमी चुटकी लेते हुए कहता है, ''अरे तुम्हारी उमर रोम ऋषि जितनी है... तुम यहीं रहोगे। अगर तुम नहीं रहोगे तो हमारे ये तंबू कौन लगाएगा। जब हम कश्मीर जाएंगे और फिर हमारे बाद इन टेंटों की रखवाली भी तो तुम्हें ही करने पड़ेगी ना। क्या तपा फिर से आना पड़े तो।'' कितना उद्वेलित करता है यह कथन, ''रोशनलाल, तुम कैसी बातें कर रहे हो? काक का स्वर्गवास हुए लगभग बीस बरस हो गए हैं। अब, इस वक्त, तुम्हारी मां मर गई है। सुना, तुम्हारी मां मर गई है। अम्मा मर चुकी है। पिता ने तो केवल गांव की छांव देखी थी, मगर मां ने गांव की छाया भी और यहां का तपा सहरा भी देखा था। आज तुम दोनों से मुक्त हो गए। सभी बंधन पूरी तरह से टूट गए. ..।'' सोचने पर मजबूर करता है दृश्य। क्या धरती का अपनापन संबंधों के खत्म हो जाने से छूट जाता है?

चमनलाल हक्खू की कहानी 'आदम यूं ही बदनाम नहीं' आज की फिल्मी चकाचौंध के पीछे की असलियत को उजागर करती है। 'अब किसकी बारी' आज के चिकित्सकीय पेशा के लिए संदेश है। चूलो से उखड़ा दरवाजा, आदि कहानियां नवीन परिवेश से कथा को उठाती है।

अट्ठाईस कहानियों का यह संग्रह 2014 तक के कालखंड को अपने में समेटे हैं।

अनुवादक स्वयं लिखते हैं, ''इस संलकन में संगृहीत कथाएं कश्मीरी कहानी की कथा-यात्रा को दर्ज करते हुए इसके आरंभ के दिनों से अबतक के प्रमुख कथाकारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कहानियों को कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत कर यह कोशिश की गई है कि इनके माध्यम से हम कश्मीरी समाज के बदलते इतिहास से भी रू-ब-रू हों। ये रचनाएं कश्मीरी समाज की आशंकाओं, इच्छाओं, चिंताओं तथा एक बेहतर जीवन की उम्मीद की कहानियां है। पिछले 65 वर्षों में लिखी ये कहानियां अपने समय की कथा-व्यथा कहने के साथ ही समाज की प्रकृति तथा चेतना का आईना हैं।''

अलग-अलग दशकों की कहानियों का प्रतिनिधि करती कहानियां हैं। नए कथाकारों के कथ्य और शिल्प का परिचय देती कहानियां हैं तो पुराने साठ साल के परिवेश और मनःस्थिति को उजागर करती कहानियां। महानगर से लेकर गांव तक को छूती कहानियां। टूटन, विस्थापन, चालाकी, चापलूसी को समेटती कहानियां। कहानियां लंबी भी हैं तो लघुकथा के आकार के साथ बड़ा संदेश देती भी हैं। गौरीशंकर रैणा की कहानी 'मेनिकिन' भी इस संकलन में है जो मनुष्य की भवितव्यता को खोलती है।

नरक-स्वर्ग के स्वप्नों को दिखाती है। गौरीशंकर रैणा ने बड़ी सिद्दत से अनुवाद किया है। उन्होंने जिन लेखकों को चुना है- वे 1916 ई. से 1958 ई. तक के हैं। दूसरी विशेषता यह कि कहानियों का क्रम भी उसी आधार पर बनाया गया है। तीसरी बात कश्मीर के जीवन के विभिन्न दृश्यों को चयनित किया गया है। वहां यह भी बताने का प्रयत्न है कि लेखकों की कहानियों का विकास क्रम कैसा रहा है। काल के आधार पर कहानियों का विषय चयन प्रासंगिक है। कहानियों का एक संदेश यह भी है कि कहानी किसी भी भाषा या बोली में उसका कथ्य और संदेश पूरे भारतीय समाज का रहता है। पाठक के नाते हमारे मन में कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। कश्मीरी समाज को भी यदि लेखक अपनी भूमिका में स्पष्ट करते तो विषय के साथ स्वतंत्रता से लेकर आज तक के कश्मीर को समझने में सहूलियत होती। दूसरी बात क्या केवल इन कथाओं का चयन जम्मू-कश्मीर है या लेह-लद्दाख भी। तीसरी बात कश्मीरी क्या केवल कश्मीर नाम के भौगोलिक क्षेत्र की बोली है या पूरे जम्मू कश्मीर, लेह लद्दाख की। सहज रूप से कश्मीर कहने पर पूरे कश्मीर का ही बोध होता है। कहानियों के लिखने का वर्ष यदि उल्लेख किया गया होता तो वस्तुस्थिति को समझने में और सहजता होती। फिर भी संकलन पठनीय है, कथ्य बोधप्रद हैं। शैलियां भिन्न-भिन्न होने के बावजूद प्रस्तुतीकरण सुंदर है। भाषा अनुवाद की है फिर भी भाव के प्रवाह में बाधक नहीं है। तात्पर्य यह कि रैणा ने सार्थक प्रयास करते हुए कश्मीरी को पूरे भारत में हिंदी के माध्यम से पहुंचाने का प्रयास किया है, जो सराहनीय और स्वागतयोग्य है। ■

उपन्यास

शिक्षा का वैचारिक कुंभ

डी.एन. प्रसाद
आलोचक

संपर्क : प्राध्यापक
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स,
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

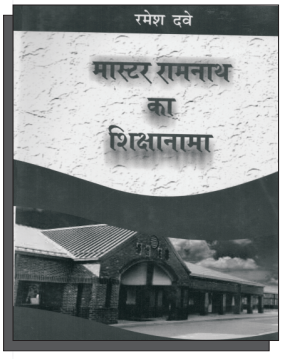

पुस्तक : मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा
लेखक : प्रो. रमेश दवे
प्रकाशक : भावना प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 184
मूल्य : ₹ 400

चिंतन की नूतनता और भाषा की प्रवाहमयी गूढ़ता के साथ जब प्रो. रमेश दवे सर्जना को आयाम देते हैं तो वह एक नायाब नमूना निर्मित हो जाता है। कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो, आलोचना हो या संपादकीय विहान हो, सब कुछ विहान के विहग की भांति नूतन होता है, पाठक को चौंकानेवाला होता है और सृजनधर्मा के लिए रमेश दवे की सृजनधर्मिता के प्रति चिंतन का आयाम दे देता है। इनके सृजन में शिक्षण और साहित्य का सम्मिलन इन्हें औरों के लेखन से अलग करता है। कविता में अनछुए बिंब का स्पर्श, कहानी में कथन की शैली का अलग व्याकरण, उपन्यास में सामाजिक आंखों से ओझल किंतु सार्थक समस्या का कथाबोध और आलोचना में समदृष्टि की समालोचना, किंतु भाषा वाग्प्रवाह की तरह तरल तथा संपादकीय समकाल पर तिरोहित रमेश दवे की तात्कालिक संवेदना का साहित्य-सृजन है। संवाद में कहीं कोई लाग-लपेट नहीं; न कोई भाषाई गोपन, न छद्म का आलोड़न!

व्यक्तित्व 'एकला चलो रे बंधु'... परंतु पीड़ा व्यक्ति की हो या समाज-परिवार की, श्री दवे दबे पांव आकर अपना काम कर जाते हैं। न कोई फतवा, न कोई शोर और न कोई इश्तहार! आलोचना की उत्तर परंपरा में रचना-समय का संघर्ष जारी है और अस्सी पार के वय में भी कलम की धार अपनी दिशा में तीक्ष्ण है। एक और बात है रमेश दवे में, रमेश की रुह जहां रहबर हो गई, समझो कोई-न-कोई रुहानी इमारत खड़ी होगी ही! बात महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की है, रमेश दवे को यहां तीन माह के लिए आवासीय लेखक का आमंत्रण मिला। विश्वविद्यालय के अतिथि गृह का एकांत चिंतन सृजन को प्रवाह देने लगा। कुछ स्फुट सर्जना के बाद आकारिक सर्जन आकार लेने लगा। रमेश दवे अपने परिवेश के समकाल और रुचि की सुरुचि से विषय उठाते हैं और संदर्भित शब्द से विषयानुकूल कथा की रचना कर डालते हैं। अपने पूर्व के दो उपन्यास 'खेलगुरु', 'हरा आकाश' की भांति तीसरा उपन्यास 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' विषय परिप्रेक्ष्य में अकेला है। 'खेलगुरु' खेल की दुनिया की जबरदस्त कथा, 'हरा आकाश' पर्यावरण की परिधि में गार्डेनिंग पर इकलौती कथा रचना और तीसरा 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' शिक्षा जगत का संपूर्ण दस्तावेज औपन्यासिक-वृत्ति में। इस विषय पर संपूर्ण उपन्यास की रचना अभी तक नहीं है। इस तीसरे उपन्यास का रचना-समय भी 'स्मॉल इज ब्यूटीफूल' की भांति है अर्थात् मात्र 47 दिनों की रचनात्मकता में उपन्यास की पूर्णाहुति होती है। इससे रमेश दवे की सर्जनात्मक ऊर्जा का पता चलता है और तब सार्थक होता है 'ओल्ड इज गोल्ड' कहना। शिक्षा-समाज को मात्र 47 दिन में औपन्यासिक कथानक में पिरो कर पूर्णता प्राप्त करना एक अनोखी और अकेली घटना है। हिंदी साहित्य में उपन्यास लेखन की यह अवधि लेखक की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का सम्मिलन ही है। यह उपन्यास लेखकों के लिए नजीर है। यों यह भी कहा जाए कि 80 की उम्र में लेखक रमेश दवे ने उपन्यास का एके 47 दाग दिया है। यह साहित्यिक हलचल का हवाला होना चाहिए।

उपन्यासकार रमेश दवे ने अपने पूर्व के दो उपन्यासों की भांति 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' को समाज के सामने हल खोजने को रख दिया है। शिक्षा समाज का एक ऐसा जरूरी विषय है जिसके बिना समाज के विकास की कल्पना नहीं। हम सभी जानते हैं कि शिक्षा मंदिर में ज्ञान का नैतिक व्यवहार सिखाया जाता है, परंतु उसी मंदिर में जब ज्ञान का अनैतिक व्यवहार होने लगता है तब भी हम अपना होंठ सीले रहते हैं। मास्टर रामनाथ होंठ खोलना चाहता है, परंतु फिर भी सांसारिकता से थक जाता है। तब उपन्यास का क्रिएटिव कैरेक्टर हेमंतराव पांडुरंगराव सिरपुरे नागपुरवाले, जो मास्टर रामनाथ का सहपाठी है, उसे शिक्षा की वर्तमान स्थिति का आकलन कराता है, ''रामनाथ थोड़ा धीरज से काम लो। जल्दबाजी के फैसले कभी-कभी नुकसान में बदल जाते हैं। माना कि हमारा शिक्षातंत्र खराब है, भ्रष्ट है, कहीं-कहीं अराजक है, मगर दो शताब्दियों की औपनिवेशिक शिक्षा ने हमसे हमारा चरित्र तो छीन लिया और हमारे अंदर भी उपनिवेशवाद का चरित्र ही रच दिया। हमारे सोच पर हमारे अहंकार, अधिकार, सत्ता, शक्ति, धन सब का उपनिवेश हावी है। क्या करें व्यवस्था तो निर्मम लौह-कवच कसे बैठी है, उसे फोड़कर कवच मुक्त करने

वाली शक्ति अभी हमारी शिक्षा बन नहीं पाई है। फिर भी एक बात तो है, इस शिक्षा के उपनिवेश से उपनिवेश के विरुद्ध अभियान छिड़े, आंदोलन हुए, क्रांतियां हुईं और कई गुलाम देश आजाद हो गए। आजाद तो हो गए मगर आज तक हम एक आजाद मुल्क की शिक्षा कैसी हो या ऐसी हो कि जो हमारा उपनिवेश हमारे मन से उखाड़ फेंके, ऐसा कुछ नहीं हुआ।''

अपने रेवेन्यु अफसर मित्र सहपाठी हेमंत राव पांडुरंग राव सिरपुरे नागपुरवाले की शिक्षा आयाम पर इतनी अच्छी विश्लेणात्मक बातें सुनकर शिक्षक रामनाथ अपने भूत, वर्तमान और भविष्य की शिक्षा परिणाम पर विचरने लगा। फिर जिस मित्र हेमंतराव की अजन्मा बेटी के लिए प्ले स्कूल में दाखिला हेतु मास्टर रामनाथ प्ले स्कूलों की खाक छान रहा है और व्यवस्था के व्यवहार से माथा पीट रहा है, उस हेमंतराव की चिंतनपूर्ण व्यावहारिक दर्शन की बातें सुनकर अपनी उच्च शिक्षा की पीएच.डी. डिग्री तक में दाग देख रहा रामनाथ क्षुब्ध है कि ऐसी शिक्षा-व्यवस्था का समाजशास्त्र कैसा होगा जहां पीजी (प्ले ग्रुप) से पीएच.डी. तक तंत्र की तांत्रिक व्यवस्था की जकड़न है। यह जकड़न जंक फूड की तरह हमारी धमनियों को निष्क्रिय और विचारशून्य बनाकर संवेदनहीन शिक्षा का परिवेश निर्मित्त कर रही है, जहां रामनाथ ऐसा शिक्षक शून्य में विचरण करने लगता है। ऐसी ही शिक्षा व्यवस्था से निकले अक्षर ज्ञानी समाज के लिए अराजक बने हुए हैं। इस बात की चिंता रामनाथ को विकल्प तलाशने को बाध्य करती है।

इसी व्यवस्था में पली-बढ़ी बॉटनी की प्राध्यापिका शालिनी शील की प्रतिमूर्ति की तरह आती है और मास्टर रामनाथ को 'राम' बनने को प्रेरित करती है। शालिनी में शील है, संयम है, शालीनता है और अपने पेशे से प्यार भी है क्योंकि छात्राओं के बीच एक शीलवान और लोकप्रिय शिक्षक की भूमिका में खरी है। बॉटनी क्या पढ़ाती है, जैसे जीवन से ही जोड़

रमेश दवे अपने परिवेश के समकाल और रुचि की सुरुचि से विषय उठाते हैं और संदर्भित शब्द से विषयानुकूल कथा की रचना कर डालते हैं। अपने पूर्व के दो उपन्यास 'खेलगुरु', 'हरा आकाश' की भांति तीसरा उपन्यास 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' विषय परिप्रेक्ष्य में अकेला है। 'खेलगुरु' खेल की दुनिया की जबरदस्त कथा, 'हरा आकाश' पर्यावरण की परिधि में गार्डेनिंग पर इकलौती कथा रचना और तीसरा 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' शिक्षा जगत का संपूर्ण दस्तावेज औपन्यासिक-वृत्ति में। इस विषय पर संपूर्ण उपन्यास की रचना अभी तक नहीं है। इस तीसरे उपन्यास का रचना-समय भी 'स्मॉल इज ब्यूटीफूल' की भांति है अर्थात् मात्र 47 दिनों की रचनात्मकता में उपन्यास की पूर्णाहुति होती है।

देती है। जेसी बसु की खोज से आगे की बात! शालिनी 'राम' को संभालने की कोशिश करती है, ''सुनो रामनाथ, विकल्पों में मत चक्कर लगाओ। विकल्प निर्णय की या चयन की ताकत को कमजोर कर देते हैं। मेरा ख्याल है, तुम मास्टर तो पूरे हो, प्राध्यापक बनने की योग्यता भी पूरी है, एनजीओ भी चला सकते हो, मगर इस सब को चलाने का काम एक ब्यूरोक्रेट और अच्छी तरह से कर सकता है। बस जरूरत है कि ब्यूरोक्रेसी को भी बदलना होगा। उसके औपनिवेशिक या सामंती चरित्र को लोकोन्मुखी और शालीन बनाना होगा। ब्यूरोक्रेट्स को विनम्र और संवेदनशील बनाने की जरूरत है। ब्यूरोक्रेसी को ब्यूरोग्रेसी अर्थात् ग्रेसफुल बना सकते हो तुम! अधिकार से अहंकार पैदा होता है, ब्यूरोक्रेसी के अहंकार का यह पुरातन प्रशिक्षण बदल कर लोक कल्याणकारी बनाना होगा। राजा महाराजाओं के साढ़े छह सौ राज्यों को जिस शक्ति ने एक ही झटके में राजा से नागरिक बना दिया, उसी झटके से तुम्हें ब्यूरोक्रेसी को बदलना पड़ेगा। सेवा का अर्थ न जाने क्यों नौकरी हो गया है। नौकरी का अर्थ भी बड़ा अधिकार होकर अहंकार की आजमाइश हो गया है। तुम आज से पूरे छह माह का अवकाश ले लो। तैयारी में जुट जाओ। विदाउट-पे होने का घाटा मैं पूरा कर दूंगी।''

शालिनी की व्यवहार कुशल बातों ने रामनाथ के अंदर के ज्ञान को चुनौती दे दी। उसके अंदर का मास्टर जाग उठा। शील, संयम और कर्म की त्रिवेणी बहने लगी। निस्स्वार्थ उदारता शालिनी के शिक्षा के झरोखे से रामनाथ को शीतल हवा दे गई। वह अव्यवस्था के बीच भी अपना निर्णय निर्मित करेगा। बने बनाए रास्ते पर चलने की बजाए वह अपना रास्ता स्वयं निर्मित करेगा। दूसरों के लिए आदर्श बनेगा। शिक्षा के सरोवर में एक अपना पत्थर उछालेगा, जिसकी तरंगें 'अंतिम जन' तक जाएंगी। समय के विद्रूपों से लड़ेगा, नैतिक साहस से बोलेगा।

कटिबद्ध मास्टर रामनाथ अपनी ईमानदार पढ़ाई से आईएएस हो जाता है। आदिवासी बहुल क्षेत्र में पोस्टिंग आदिवासियों के नैसर्गिक जीवन और स्वभाव का परिचय कराती है। कक्षा और पाठ्य पुस्तक से परे ये प्राकृतिक नियमों से संचालित हैं, आज की शिक्षा व्यवस्था से कहीं ज्यादा शील और संयम के साथ। प्रशासक बना रामनाथ अपने अंदर के शिक्षक और शिक्षा को ढूंढ़ता है। शिक्षक के रूप में अपने को संवेदनशील पाता और सोचता है, 'क्यों नहीं सभी शिक्षक संवेदना से भरे हैं! यहां रामनाथ को कवि गोरख पांडेय की कविता याद आती है-तुम्हारे हाथों को/अपने हाथों में लेकर सोचता हूं/क्यों नहीं दुनियां/तुम्हारे हाथ की तरह नरम और मुलायम है। फिर रामनाथ शिक्षा में अराजकता और हिंसक वृत्ति का समावेश पाता है। उसे मैन मेकिंग एजुकेशन दिखता ही नहीं है। द्वंद्व

से उद्‌बुद्ध होकर अपने प्रमुख सचिव से प्रश्न कर बैठता है-''सर, मेरे मन में सदैव एक विचार खलबलाता रहता है। स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक में झूठ, ईर्ष्या, अपराध, बलात्कार, भ्रष्टाचार, झूठी शिकायत, तथाकथित आरोप, चरित्र-हनन आदि किसी ऐसे विषय का कोई पाठ्यक्रम नहीं होता, न ऐसी पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, फिर ये दुर्गुण कहां से आ जाते हैं? यदि ये मनुष्य के स्वाभाविक मनोविकार हैं तो क्या शिक्षा से इन्हें सुधारा नहीं जा सकता? शिक्षा अगर संयम, शील, संतुलन, सहयोग, सद्‌भाव, आपसी प्रेम आदि नहीं बनाती तो क्या शिक्षा से अक्षरों, शब्दों का जखीरा जीवन भर ढ़ोना है? हमने स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय बनाए, मगर उनसे अच्छे मनुष्य क्यों नहीं बनाए सर? ''अपनी अंतश्चेतना की अंतर्मुखी चिंता को व्यक्त कर रामनाथ कुछ रिलैक्स तो होता है, परंतु 'येई छलेटिके मानुष कोड़ते होइबे', 'मैंने मेकिंग एजुकेशन', 'विद्या ददाति विनयम्' आदि-आदि आप्त सूत्रों के अर्थ-संदर्भ को लेकर चिंतित रहता है। वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की हिंसक वृत्ति से क्या शांति की शिक्षा पूर्ण होगी? विकास के बदलते मॉडल में शिक्षातंत्र जिस विकास की सीढियां तय रहा है उससे मूल्याधारित शिक्षा का कोई मेल है क्या? जबकि शिक्षा स्वयं एक मूल्य है। गांधी, विनोबा, रविबाबू, विवेकानंद, अरविंद, महामना आदि सभी ने शिक्षा मूल्य से जीवन-मूल्य की सीख दी है फिर क्यों हम प्लेटो, अरस्तू, पेस्टॉलाजी, फ्रोबेल, जॉनडिवी के पीछे भाग रहे हैं जबकि बर्ट्रेंड रसेल जैसा दार्शनिक बाइबिल के बाद 'हिंद स्वराज' को अपनी सर्वाधिक प्रिय पुस्तक मानता है। इवान इलिच जैसा शिक्षाविद् सेवाग्राम में रहकर शिक्षा के गांधी चिंतन को ग्रहण करता है, आदि-आदि विचारकों के विचारधारा से रामनाथ टकराता है, धारा में बहता है और अपने प्रशासक पर स्वयं से प्रश्न करता है, 'आखिर शिक्षा की बुनियाद ऐसी क्यों है? जबकि शिक्षा आदमी से मनुष्य की रचना करती है, उसका परिष्कार और परिमार्जन करती है। इससे इतर विकास का मानवीय मॉडल और क्या हो सकता है?' रामनाथ चिंतित है, उपन्यास का लेखक भी चिंतित है।

शिक्षा की केंद्रीय भूमिका पर उपन्यास की सर्जना एक वैचारिक आंदोलन से कम नहीं है और जरूरी भी है। मूल्यहीन शिक्षा की वर्तमान दिशा ने सूचना तो दी है, विद्यार्थी का ब्रेन सूचनातंत्र से भर तो दिया है, परंतु संवेदना को खाली कर दिया है। ऐसे प्रश्नों में प्रशासक बना रामनाथ ब्रिटिश शासन और वर्तमान शासन के बीच अंतर कर चौक जाता है -'गांधी था तब भी गोली चली, गांधी पर भी गोली चली और गांधी के बाद भी गोली चल रही है। क्या शांति, प्रेम, अहिंसा सद्‌भाव की चतुर्वेणी सूख गई है? पश्चिम की हिंसक सभ्यता ने यदि हमें हिंसक शासन-प्रशासन दिया, उनका ही पुलिस कोड, उनका ही इंडियन पेनल कोड, क्रिमिनल और सिविल प्रोसीजर कोड, अगर सारे कोड उनके ही हैं तो हमारा कोड क्या है? हमारा जो मॉरल कोड गांधी ने रचा था और जिसके समक्ष गोलियों की सत्ता गलियों में आजादी के अहिंसक नारों की सत्ता में बदल गई थी, वह अब कहां है? गांधी से जो गोली हार गई थी, उसी गोली से हमने गांधी को मार डाला। गांधी की मौत पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने क्या कहा था, मालूम है! उनका कहना था कि गांधी को छह साल तक जेल में भी हमने उन्हें जिंदा रखा, आपने उन्हें छह माह के अंदर ही जेल के बाहर मार दिया। कितना बड़ा सच बोल गया था! सच पूछा जाए तो गांधी की मृत्यु के बाद आजाद भारत में भी गोली की ही सत्ता आ गई है।'

उक्त चिंतन लेखक का हो या उपन्यास के नायक रामनाथ का या देश के अन्य अनेक रामनाथ का जो नैतिक साहस के साथ बदलाव करना चाहते हैं, विचारांदोलन करना चाहते हैं परंतु गोली की सत्ता के कारण सहम जाते हैं, विमुख हो जाते हैं, होंठ सी लेते हैं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के बावजूद! वस्तुतः उपन्यास शिक्षा-समाज का खुला दस्तावेज है जो हर वर्ग के लिए अनिवार्यतः पठनीय नहीं, विचारणीय है। रामनाथ आदर्श नायक है तो उसका सहपाठी हेमंतराव पांडुरंगराव सिरपुरे नागपुरवाले वर्तमान परिवेश का व्यवहार कुशल सरकारी अधिकारी और सहनायक, फिर भी अपनी बेटी के लिए प्ले स्कूल में प्रवेश हेतु मारा-मारा फिरता उपन्यास का नवाचारी पात्र, जिसे पता है कि जिस दिन सरकारी स्कूल नहीं होंगे, आधा हिंदुस्तान अनपढ़ या निरक्षर रह जाएगा, परंतु मेरा आकलन है कि एक तिहाई भारत (75 प्रतिशत) अक्षर पहचान से कोसों दूर रह जाएगा। बावजूद इसके हेमंतराव पांडुरंगराव सिरपुरे नागपुरवाले शिक्षा के वर्तमान विकास की दौड़ में अपनी बिटिया के लिए प्ले स्कूल के पीछे दौड़ रहा है और प्राासक बना रामनाथ पीएच.डी. जैसी शिक्षा की उच्च डिग्री के चंगुल से विमुख व्यवहारवादी शिक्षा दार्शनिक की दृष्टि से विकसित व्यवहार को देखना चाहता है जो शिक्षा का जीवन मूल्य है, विचार मूल्य है जिससे मानवीय व्यवहार की निर्मिति होती है। विचारहीनता की व्यावहारिक प्रबुद्धि के कारण वैचारिकहीन व्यक्ति समूह ने गांधी को गोली मारी, अगर शिक्षा की वैचारिक व्यावहारिकी का परिज्ञान होता तो शायद ऐसा नहीं होता। आज भी हम ऐसी मानसिकता से ऊबर नहीं पाए हैं, आज तो शिक्षा की सूचनांक प्रणाली ने वस्तुनिष्ठता तो दी है, समष्टिनिष्ठता नहीं दी है। नेट पर पढ़ने की आदत तो विकसित हुई है, पर क्या नेट किसी भी जीवित पुस्तक का विकल्प है? पुस्तक विचार को जन्म देती है, नेट सूचना बनकर रह जाता है। तात्पर्य कल चित्त अस्थिरता के कारण विचारहीनता थी, आज तकनीकी दौड़ के कारण।

आज, अलबत्ता यह उपन्यास केवल शिक्षा की गल्प-कथा ही नहीं, बल्कि मनुष्य के विवेक, विचार और अनुभव-विन्यास की भी कथा है। इसे शिक्षा का वैचारिक कुंभ कहना या शिक्षा का वैचारिक ज्ञानकोश कहना कोई

अतिशयोक्ति नहीं होगा। अर्थात् शिक्षा विचार का ज्ञानकोश है यह 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' जिसे शिक्षा के खुरदुरेपन से सॉफ्ट बनाया है उपन्यास की धीरोदात्त नायिका शालिनी ने। प्राध्यापिका शालिनी। कितना शील, कितना संयम। कितनी मार्यादाएं। धीरोदात्त नायिका गुण संपन्न। कितनी शालीनता। विसंगतियों और विडंबनाओं से स्वयं संघर्ष करती मास्टर रामनाथ की होकर शिक्षा को सुपथ से सहेजती, संवारती सहधर्मिणी। बड़ी सहजता से गूढ़ बात को सरलता में कह जाती है जहां कोई विसंगति नहीं- 'हां, रामनाथ, सोच तो तुम्हारी सही है। मैं भी चाहती हूं कि यह देश केवल हेमंतराव पांडुरंगराव सिरपुरे नागपुरवाले की बेटी उज्ज्वला के प्ले-स्कूल की ही खोज न बने बल्कि सारे देश के सारे बच्चों का प्ले-स्कूल बन जाए, सारे किशोरों, युवकों का प्ले-कॉलेज और प्ले-विश्वविद्यालय बन जाए, जहां शिक्षा आनंद का उत्सव बने, ऊर्जा का चमत्कार बने और शिक्षा ऐसी बने कि हर स्वप्न देखने वाले को शिक्षा अपना स्वप्न लगे।'

उपन्यास 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' लेखक रमेश दवे के सुदीर्घ शैक्षिक अनुभव की सृजन-गाथा है जिसे अत्यंत निर्भावुक होकर, शैक्षिक संवेदनशीलता से रचा गया है। शिक्षा को केंद्र में रखकर अभी तक समग्र और सर्वांग रूप से कोई उपन्यास शायद हिंदी में संभव नहीं हुआ था। आंशिक रूप से किसी पक्ष विशेष को लेकर रची गई अनेक कृतियां हैं तो अवश्य, लेकिन वे शिक्षा के रूप-स्वरूप, स्थिति और विकास को उसकी पूर्णता में संभवतया प्रस्तुत कम ही कर पाती हैं। ऐसे में शिक्षा जैसे एक विशाल-व्यापक तंत्र को कथाभूमि बनाकर रचना कम चुनौतीपूर्ण कार्य नहीं रहा होगा। लेकिन प्रो. रमेश दवे ने जहां वस्तुनिष्ठ यथार्थ को रोचकता से रचा है, वहीं व्यंग्य और भाषाई गठन से उपन्यास में निरंतर पठनीय उत्सुकता कायम रखी है। शिक्षा जो आजकल तंत्र या व्यवस्था के अधीन है, उसे उसकी मर्यादा, निष्ठा और संकल्प के साथ कैसे सामाजिक परिवर्तन की तेजस्वी भूमिका में सक्रिय किया जा सकता है, यह उपन्यास पढ़कर शिक्षा से जुड़े शासक, राजनीतिक नेतृत्व, प्राध्यापक, सामान्य नागरिक, अभिभावक, समाजकर्मी, छात्र-छात्राएं सभी कुछ नया सोचने के लिए उन्मुख होंगे। वस्तुतः यह उपन्यास संभवतया भारतीय शिक्षा के भविष्य-चिंतन की एक भूमिका ही है जिसे पढ़कर आगे का शिक्षा मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

अंततः, 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' ब्रिटिश भारत के बाद के भारत की शिक्षा तस्वीर उकेरता, समसामयिक समय का यथार्थवादी कला के उपांगों को प्रस्तुत करता एवं अपने औपन्यासिक चरित्र को चरितार्थ करता कथा-माध्यम में कथानक का दर्पण है, जिसमें एक पूरा शिक्षा-समाज अपना मुखड़ा साफ देख सकता है और देख सकता है समाज-दर्शन, शिक्षा-दर्शन के साथ मनोविज्ञान दर्शन भी। लेखक प्रो. रमेश दवे की भाषा संवेदना को दबे पांव चिकोटी काट कर चली जाती है पाठक रूपी समाज को इसका मानवीय दर्द सहने को और मजे की बात यह है कि दर्द सहने की यही मानवीय संवेदना समस्या का सुपथ दिखाती है, उपन्यास का इष्ट भी यही है। शिक्षा में साहित्य का उन्मीलन और साहित्य में शिक्षा का आलेपन एक दृष्टिपाक देता है। अस्तु, अपने विषय के परिप्रेक्ष्य में 'मास्टर रामनाथ का शिक्षानामा' औपन्यासिक कथानक में अकेली घटना है। इसमें समाज अपनी संप्राप्ति देखेगा। ■

पुस्तक-वार्ता का आगामी अंक : 76-77 (संयुक्तांक)

यह अंक कर्मयोगी पंडित माधवराव सप्रे पर केंद्रित होगा। इस अंक में रचनाकार शामिल हैं - विजयदत्त श्रीधर, रमेशचंद्र शाह, खगेंद्र ठाकुर, बलराम, प्रतापराव कदम, प्रेमपाल शर्मा, सुशीला टाकभौरे, सत्यकेतु सांकृत, जय सिंह, सूरज प्रकाश, प्रभु जोशी, ज्योति चावला, प्रेम प्रभाकर, राम यतन यादव, मधु सक्सेना, शरद जायसवाल, राहुल शर्मा, एस.कुमार, मोहनदास नैमिशराय, प्रमोद मीणा आदि।

- निवेदन -

'पुस्तक-वार्ता' के रचनाकारों को अवगत कराना है कि मानदेय भुगतान के लिए सीधे बैंक खाते में धनराशि स्थानांतरण की व्यवस्था की गई है। आपसे अनुरोध है कि अपने बैंक खाते का पूर्ण विवरण यथा नाम, बैंक और शाखा का नाम, खाता संख्या और आईएफएससी कोड ई-मेल : amitbishwas2004@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।

लेखक का डार्करूम

■ संजीव
कथाकार

संपर्क : 43 ए
न्यू डीडीए जनता फ्लैट्स
चिल्ला, मयूर विहार फेस-1
दिल्ली-110091

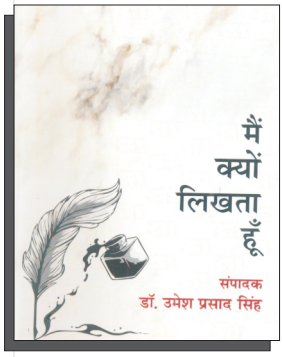

पुस्तक : मैं क्यों लिखता हूं
संपादक : डॉ. उमेश प्रसाद सिंह
प्रकाशक : अतुल्य पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
पृष्ठ : 128
मूल्य : ₹ 250

अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' में प्रेमचंद को 'कोट' किया है- ''मेरी जिंदगी में ऐसा क्या है जिसे मैं सुनाऊं-एक सीधा-साधा गृहस्थी के पचड़े में फंसा हुआ तंग दस्त मुदर्रिस, जो सारी जिंदगी इस उम्मीद में कलम घिसता रहा कि कुछ आसूदा हो सकेगा मगर हो न सका. .. मैं तो नदी-किनारे खड़ा हुआ नरकुल (नारियल का पेड़) हूं, हवाओं के थपेड़े से मेरे भीतर भी आवाज पैदा हो जाती है... बस इतनी-सी बात है। मेरे पास अपना कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, उन हवाओं का है जो मेरे भीतर बजीं।''

यह संभवतः एक पिता का पुत्र को, एक वरिष्ठ लेखक का अपने कनिष्ठ लेखक को इस प्रश्न का दिया हुआ जवाब था कि वह क्यों लिखता है?

'मैं क्यों लिखता हूं', प्रश्न को सार्वजनिक रूप से फैलाना लेखक के नेपथ्य या डार्करूम में झांकने जैसा है।

डॉ. उमेश प्रसाद सिंह ने देश के इक्कीस साहित्यकारों के माध्यम से इस प्रश्न का उत्तर तलाशने की कोशिश की है। इन लेखकों में प्रेमचंद, अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा से लेकर नए सशक्त लेखक राकेश कुमार सिंह और सुरेश कांटक तक शामिल हैं। इतने सारे लेखकों-कवियों के उद्‌गार जानना अपने आप में दिलचस्प अभिज्ञान है।

बाजारवाद की भाषा में कहें तो साहित्य एक उत्पाद है। तो उत्पाद के विशेषज्ञों (आलोचक) के साथ-साथ उत्पादकों (लेखकों) की राय जानना भी जरूरी है कि उनकी प्रेरक शक्ति क्या है, लक्ष्य क्या है। कोई क्यों लिखता है, वही और वैसा ही क्यों लिखता है। क्या वह खुद भी जानता है? लेखन उसके मानस पुत्र नायक की विफलता का परिचायक है या विकलता का? क्या लेखन व्यष्टि को समष्टि से जोड़ने का माध्यम है? वह स्वानुभूति का प्रतिफलन है या सहानुभूति का। स्मृति, कल्पना, आवेग, आग्रह? ये और ऐसी कितनी ही कारक शक्तियां हैं-इसकी पड़ताल की एक कोशिश है उमेश जी द्वारा संपादित, संकलित यह पुस्तक।

प्रारंभ में मैंने प्रेमचंद को 'कोट' किया, प्रेमचंद का यह अंश उनके जवाब में शुमार नहीं है पर बहुत-सी अन्य जरूरी बातें हैं। तुलसी ने स्वांतः सुखाय कहा था, कबीर ने पर दुख कातरता को कारण के रूप में चिह्नित किया था। शेक्सपियर स्वीकारा था पैसों के लिए नाटक लिखता हूं। अगर लेखन किसी लेखक की आजीविका है तो उसे स्वीकारने में शर्म कैसी? तुलसी ने अगर 'स्वांतः सुखाय' लिखा तो कबीर दुखिया दास कबीर का जागे और रोये' कहा। शेक्सपियर ने स्वीकारा कि पैसों के लिए नाटक लिखते हैं, तो हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा ने भी यही बात कही- मैं तो पैसों के लिए लिखता हूं। अर्थ प्राप्ति के बाद इसका कारण बनती है यश की संप्राप्ति। आचार्य मम्मट ने बहुत पहले इस सच्चाई को उद्‌घाटित किया था। आश्चर्य है, जिन इक्कीस लेखकों को पुस्तक में शामिल किया गया है, 'यश' की आकांक्षा की बात किसी ने भी नहीं स्वीकारी।

बावजूद इसके प्रायः सभी आत्मस्वी कृतियां सच हैं, दंभ से प्रायः मुक्त भी, कइयों ने तो प्रेमचंद की ही तरह लेखन के जरिए कुछ न कर पाने की असफलता को कॅनफेस भी किया है।

अंत से ही आरंभ करें तो वहां खड़े मिलते हैं हाशिए पर पड़े आदिवासियों पर लिखने वाले युवा लेखक राकेश कुमार सिंह-

''मैं अपनी जन्मभूमि पलामू (झारखंड) के न भुलाने योग्य चेहरे या कुछ स्मृतियां जो मन-मस्तिष्क में खोई गुफाओं के भित्ति चित्रों की भांति आज भी ताजा हैं, उन्हें अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाना चाहता हूं। राकेश ने अपने आदि से आज तक की संक्षिप्त विकास-यात्रा को चिह्नित की है तो जनधर्मी कथाकार सुरेश कांटक लेखन को हथियार बताते हैं-'' मैं लिखता हूं/इसलिए लिखता हूं मैं, ताकि मिले बेजुबानों को जबान/भूख का समाधान/धरती पूत को मान और सम्मान..., ताकि बची रहे प्यार भरी दुनिया सर्वनाशी युद्ध की लपलपाती जिह्वा से...।''

शिवमूर्ति अन्याय और असमानता के विरुद्ध और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की आकांक्षा से लिखते हैं। शिवमूर्ति की तरह कई लेखक व्यवस्था परिवर्तन के लिए लिखने की बात स्वीकार करते हैं तो कुछ इसे ढोंग मानते हैं। कुछ के लिए सरोकार ही मुख्य है, कुछ के लिए नहीं। दृष्टिकोण बहुधा वर्गीय हैं। सूर्यबाला भ्रष्ट और बर्बर तंत्र के घिनौने करतब के बरअक्स उन्हें बर्दाश्त न कर पाने की मानसिकता में

कलम उठाती हैं पर ध्वंस और क्रांति से कोसों दूर या फिर मनुष्य के अबूझे अहसासों तक पहुंचने को अपना उद्देश्य बनाती हैं। नमिता सिंह इसे वैज्ञानिक सिद्धांतों में खोजती हैं कि प्रारंभ में जो 'लिखने का कारण' बनता है, वही बाद में एक ऊंचाई पर पहुंच कर 'न लिखने का कारण' बन जाता है- थीसिस और एंटीथीसिस। कभी-कभी तो शोषण से अछूती लेखकीय प्रतिभाएं भी इतने-इतने मर्मांतक दुख परोसती हैं कि पाठक 'अश-अश' कर उठें। इसे क्या कहें- 'काल्पनिक दुख' या 'परकाया प्रवेश'? अपनी लंबी पड़ताल में राजी सेठ बताती हैं कि मैं लिखती हूं, क्योंकि प्रवृत्तिगत रूप से मैं लिखने के अलावा उतना सहज कुछ कर ही नहीं सकती। लेखन पूर्व के व्यर्थता बोध के लंबे अंतराल, उनकी जड़ता, हताश, खिन्नता, क्षोभ और अप्रसन्नता के कारण ही मैं विपरीत प्रफुल्लता का अर्थ समझ सकी। स्वीकारती हैं कि उन्हें लेखन की भट्टी में बने रसायन की प्रकृति ज्ञात नहीं है पर अपने आंतरिक व्योम को समृद्ध करने के लिए लिखती हैं।

आदमी बने रहने की हजारों हारों में भी अपनी जीत के प्रति अटूट आस्था के लिए लिखते हैं कवि ठाकुर प्रसाद सिंह (इसे उन्होंने जीवन की क्षतिपूर्ति का नाम दिया है) तो दूसरे बड़े कवि केदारनाथ सिंह मनुष्य को जिंदा रखने की सहभागिता के लिए लिखते हैं पर जो लिखते हैं वह कई बार बाहर से भीतर का मूक संलाप होता है-एक खास सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल में मनुष्य को जिंदा रखने का संघर्ष है उनकी कविता।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह अपने लेखन का श्रेय दुख के दर्शन को श्रेय देते हैं। मात्र खुद के लिए ही नहीं भवभूति के लिए भी। 'उत्तररामचरित' के दोहरे ढक्कनों को सटा कर प्रेम (वियोग?) को पुटपाक की संजीवनी में बदलने की अभिक्रिया का उदाहरण देते हैं वे।

लेखक क्या होता है, क्यों लिखता है- इसका समाधान ढूंढते जब वे लेखक गोष्ठी में गए तो बेहद कन्फ्यूज्ड हो गए। इस चर्चा में शामिल थे डॉ. धर्मवीर भारती, शिवदान सिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, हजारी प्रसाद द्विवेदी, त्रिलोचन शास्त्री, सज्जाद जहीर, मार्कंडेय, यशपाल, नामवर, भैरव प्रसाद गुप्त, रायकृष्ण दास, कमलेश्वर, अश्क, विद्या सागर नौटियाल आदि-आदि। दिग्गजों में अपनी पहचान और ईगो के लिए घमासान मचा रहता है ऐसी गोष्ठियों में, केदारनाथ अग्रवाल अपने लेखन के कारण जानने के पूर्व अपने 'मैं' को जानना चाहते हैं-'मैं' की निर्मिति और अपने लेखन को, जीवन को श्रेष्ठतर बनाने की प्रक्रिया का पर्याय मानते हैं। निर्मल वर्मा अपने खास काव्यात्मक लहजे में 'स्वयं को पहचानने' का नाम देते हुए एक गहरे सत्य को उद्घाटित करते हैं कि यह काम मनुष्य के कार्यकलापों में सबसे ज्यादा पेचीदा और दोहरे चरित्रों का है-जो एक ओर तो यथार्थ से अद्भुत साम्य रखता है लेकिन दूसरी तरफ उसका निजी संसार है-एक ऐसा तथ्य, जिससे हम अब तक मुंह चुराते रहे थे कि कला की कोई सामाजिक प्रासंगिकता नहीं है, क्योंकि इसका सच अपने आप में है। स्वायत्त और आत्मतुष्ट। इससे ठीक उलट राजेंद्र यादव का बेहद महत्वपूर्ण विरेचनात्मक विश्लेषणात्मक विवेचन है एक 'सूर्योदय की लालसा के लिए' में अपने उत्तर को प्रतीकीकृत करते हैं तो गिरिराज किशोर जीने और दमन के खिलाफ संघर्ष में। विद्यानिवास मिश्र इस चिंता से ही प्रसन्न हैं-''मेरा लेखन इस विपुल धराधाम पर अनायास धरती की गोद में उग आए हरियाली के संवाहक वृक्ष की तरह है, जो धरती की ममता से रस, अनंत व्योम से रोशनी और अपने आस-पास से हवा-पानी लेकर पोषण प्राप्त करता हुआ मनुष्य की चेतन यात्रा में छांह देने की अभीप्सा रखता है।''

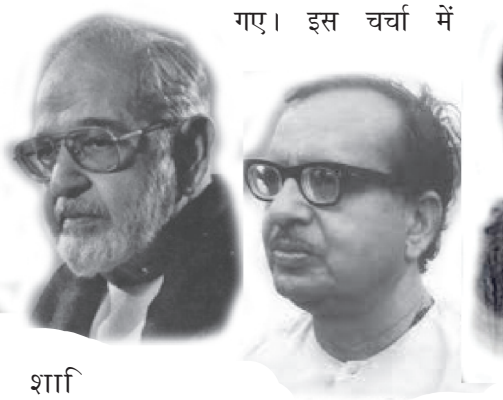

अब आते हैं दो जटिल शब्द शिल्पियों के उत्तर पर। प्रथमतः ऐसी भाषा के लिए 'अज्ञेय' रह जाने वाले 'अज्ञेय' पर- ''एक लेखक के नाते मैं कला-सृजन के माध्यमों से सबसे वेध्य माध्यम का उपयोग करता हूं, ऐसे माध्यम का जिसको निरंतर दूषित और संस्कारच्युत किया जाता रहा है अथवा उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग से करना चाहता हूं कि वह नए प्राणों से दीप्त हो उठे।' निस्संदेह शब्द उनकी पूजा है, भाषा मंदिर जिसके वे सुचितावादी पुजारी हैं। कवि के रूप में उनकी शब्दों की खोज और भी गूढ़ है। कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है...। तो एक तरफ क्लिष्ट आत्ममुग्ध विद्वान 'अज्ञेय' हैं और दूसरी ओर अनपढ़ता, अनगढ़ता में कोटि-कोटि देशवासियों के कवि कबीर जो शब्द को भी सबद कहते और भाषा को निर्बंध प्रवहमान नीर। कबीर को कभी दुविधा नहीं हुई।

दूसरे क्लिष्ट लेखक-कवि हैं मुक्तिबोध-ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की रहस्यमयी गुफा में ले जाने वाले। बहुत विस्तार से वे जीवन की पुनर्रचना की बौद्धिक प्रक्रिया को समझाते हैं। रघुवीर सहाय कवि भी हैं, कथाकार भी,

संपादक भी पर इस प्रश्न का उत्तर अलग ही ढंग से देते हैं। साहित्य या लेखन को वे समाज को बदलने का साधन अवश्य मानते हैं पर साहित्यकार की क्षमता पर उन्हें संदेह हैं। ठीक इसी तरह तो नहीं, किंचित अलग खिलंदड़े अंदाज में अमरकांत का जवाब है। बहुत अच्छे कथाकार हैं पर वे कैसे बताएं कि वे क्यों लिखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मैं क्यों लिखता हूं' में मुख्यतः दो बातें सामने आती हैं, एक वह जो लेखन को बेहद गंभीरता और जिम्मेवारी से लेता है, दूसरा वह जो सामाजिक बदलाव-क्रांति वांति को बड़बोलापन मान कर लेखन की मनोगत दुनिया का अपने ढंग से विश्लेषण करता है। एक तीसरा वर्ग भी है जो नहीं जानता कि वह क्यों लिखता है, कि पता नहीं, वह अनुभव है, जवाबदेही है या अभ्यास पर लिखता है, वैसे भी यह झमेले वाला प्रश्न है किसी औरत से पूछा जाना कि आप संतान क्यों पैदा करती हैं, जरूरी नहीं कि इसका उत्तर हो ही या कोई सटीक उत्तर दे ही पाए। मैंने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है जिसका विश्लेषण दूसरे करेंगे।

और अंत में फिर प्रेमचंद... यद्यपि महत्व के लिहाज से क्रम में वे पहले ही नंबर पर हैं पर जिस ढंग से उनका जवाब आदर्शवाद से आच्छन्न और यथार्थ से इस्केप करता नजर आता है, लगता है, वे अंतिम दौर के नहीं पहले के प्रेमचंद हैं वरना 'आनंद के स्रोत की तलाश' तक ही कैसे महदूद रहते। हमें तो इस आलेख के पहले वाले प्रेमचंद ही प्रेरणा स्रोत लगते हैं जिसे अमृत राय ने 'कलम का सिपाही' में उद्धृत किया है। डॉ. उमेश प्रसाद सिंह ने यह पुस्तक संकलित संपादित कर हिंदी साहित्य के लिए एक आवश्यक और स्वस्थ पहल की है। विश्व की कई भाषाओं में इसकी परंपरा रही है। इस लिहाज से 'मैं क्यों लिखता हूं' हिंदी की उस रिक्ति की आपूर्ति भी है। वैसे इस क्रम में काफी सशक्त लेखक छूट गए हैं। उम्मीद करें उनपर भी दृगपात किया जाएगा। यह पुस्तक पाठकों के लिए जितनी उपयोगी हैं, उतनी ही लेखकों के लिए भी। ■

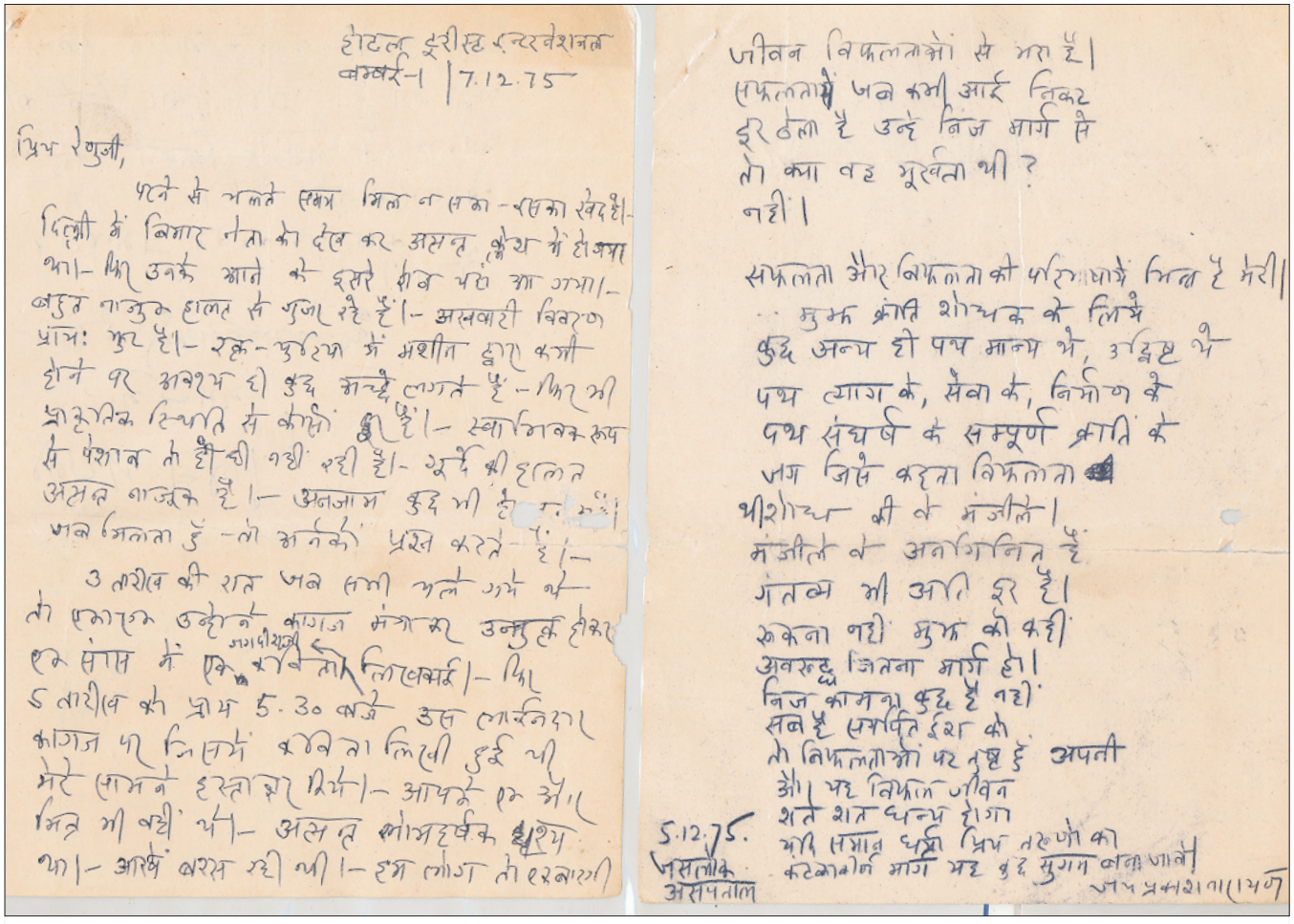

होटल इरीस इन्टरनेशनल
बम्बई-1 | 7.12.75

प्रिय रेणुजी,

पटने से चलते समय मिल न सका - इसका खेद है। दिल्ली में बिहार नेता को देख कर असल्य क्लेश से हो गया था। फिर उनके आने के दूसरे दिन पटना आ गया। बहुत नाजुक हालत से गुजर रहे हैं। असलवारी विवरण प्रायः सूख है। - रक्त-चुहरण में मशीन द्वारा कमी होने पर आवश्यक हो कुछ अच्छे लगते हैं - फिर भी प्राकृतिक स्थिति से काफी दूर हैं। - स्वाभाविक रूप से पेशाब तो होती ही नहीं रही है। - गुर्दे की हालत असल नाजुक है। - अनजाम कुछ भी हो सकता है। जब मिलता हूं - तो अनेकों प्रश्न करते हैं। -

3 तारीख की रात जब सभी चले गये थे - तो एकाएक उन्होंने कागज मंगाकर उन्मुक्त होकर एक सांस में एक कविता लिख डाली। - फिर 5 तारीख को प्रायः 5.30 बजे उस लम्बे कागज पर जिसमें कविता लिखी हुई थी मेरे सामने हस्ताक्षर किये। - आपके एम ओ मित्र भी वहीं थे। - असल क्लोमहर्षक दृश्य था। - आंखें बरस रही थी। - इस लोगों तो इस्तीफा

जीवन विफलताओं से भरा है।
सफलताएँ जब कभी आई निकट
दूर ठेला है उन्हें निज मार्ग से
तो क्या वह मूर्खता थी?
नहीं।

सफलता और विफलता की परिभाषाएँ भिन्न हैं मेरी।
मुझ क्रांति शोधक के लिये
कुछ अन्य ही पथ मान्य थे, अदृष्ट थे
पथ त्याग के, सेवा के, निर्माण के
पथ संघर्ष के सम्पूर्ण क्रांति के
जग जिसे कहता विफलता
श्री शोधन की वे मंजिलें।
मंजिलें वे अनगिनित हैं
गंतव्य भी अति दूर है।
रुकना नहीं मुझ को कहीं
अवरुद्ध जितना मार्ग हो।
निज कामना कुछ है नहीं
सब है समर्पित ईश को
तो निष्फलताओं पर तुष्ट हूं अपनी
औ यह विफल जीवन
शत शत धन्य होगा
यदि समग्र धरा प्रिय तरुणों को
कटकाकीर्ण मार्ग यह कुछ सुगम बना जावे।

5.12.75.
असपताल

जय प्रकाश नारायण

7 दिसंबर, 1975 को लोकनायक जयप्रकाश नारायण द्वारा फणीश्वरनाथ रेणु को लिखा गया पत्र
रेणु जी के पुत्र वेणु जी से प्राप्त हुआ है।

यज्ञ शर्मा को पढ़ते हुए

■ ज्ञान चतुर्वेदी
व्यंग्यकार

संपर्क : ए-40, अलकापुरी
भोपाल-462024 (म.प्र.)

पुस्तक : खाली आत्मा पीली कथा
लेखक : यज्ञ शर्मा
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर
पृष्ठ : 155
मूल्य : ₹ 175

यज्ञ शर्मा मेरे से दस साल बड़े थे, उम्र में। लेखन में तो वे और भी बहुत बड़े थे। उन्होंने भूगर्भ विज्ञान में एम. एससी. किया था परंतु वह मानव मन की जमीन के अंदर जो कुछ चल रहा है या चलता है उसकी और भी गहरी समझ रखते थे। व्यंग्य लेखन के सौंदर्य शास्त्र की गहरी समझ तो उनको थी ही।

मैंने सबसे पहले उनको धर्मयुग में पढ़ा था और चमत्कृत रह गया था कि, किसी लेखक की शुरुआती रचना भी इतनी संपूर्ण और गहन हो सकती है। वे बहुत चुस्त वाक्यों में बड़ा चुटीले व्यंग्य रचते थे। छोटे-छोटे वाक्यों में, वे आसपास घट रही तात्कालिक विसंगतिपूर्ण घटनाओं तथा स्थितियों से ऐसा व्यंग्य निकाल कर लाते थे कि उनकी व्यंग्य दृष्टि का कायल हो जाना पड़ता था। वे बेहद चुपचाप रहकर काम करने में विश्वास करते थे। वे हिंदी साहित्य के तिलिस्म के दरवाजे तलाशने के कायल नहीं थे। वैसे वे इस तिलिस्म को खूब पहचानते थे। लेखन की राजनीति को समझते तो खूब थे परंतु उसे वे हरदम एक निकृष्ट कर्म ही मानते रहे और यही बात मुझे उनसे जोड़ती थी।

वे सही अर्थों में बंबईया थे। वे अपने लेखन के काम की गुणवत्ता द्वारा ही, एक प्रोफेशनल की तरह अपनी पहचान कायम करना चाहते थे। बाकी खेल उनको आते ही नहीं थे। तभी तो यह हुआ कि उन्होंने इतना सारा लिखा, और वह छपा भी, खूब छपा, सराहा भी खूब गया परंतु उन्होंने कभी यह परवाह ही नहीं की, कि यह सारा काम व्यंग्य संग्रहों के तौर पर आने वाले समय के सामने आना भी जरूरी है। मुश्किल से दो पुस्तकें- 'सरकार का घड़ा' और 'डेमोक्रेसी के भगवान', बस। ना जाने उनका कितना काम अभी आना बकाया है। उनकी यह तीसरी पुस्तक 'खाली आत्मा, पीली कथा' भी, उनकी मृत्यु के बाद ही संकलित करके छापी गई है। अपने रचे के मोह से यूं बाहर होना, उसको यूं भुलाना आसान काम नहीं। प्रायः तो हम अपने रचे की तारीफ सुनना, अपनी कमजोर किताब का भी भव्य विमोचन कराना और उसपर यहां वहां चर्चाएं और गोष्ठियां कराना तथा उस किताब पर छोटे बड़े सारे पुरस्कारों को कबाड़ना-लेखन जगत में आम सी हो चुकी ये बातें उनके चरित्र में थी ही नहीं। वे तो बस लिखते थे, और बस लिखते ही थे। यही उनको आता था। इसी में उनका आनंद था। इसे ही वे अपना हासिल मानते रहे। आज के लेखन संसार में ऐसे नागरिक को बड़े आश्चर्य से देखा जाएगा पर ऐसे भी लोग होते तो हैं। यज्ञ थे ही।

'खाली आत्मा, पीली कथा' उनका यह नवीनतम व्यंग्य संग्रह मेरे सामने हैं। यज्ञ शर्मा ने सालों तक, मुंबई के नवभारत टाइम्स में एक नियमित कॉलम 'खाली पीली' के नाम से लिखा था- खाली पीली का मतलब? बस यूं ही, बेमतलब, बस यूं ही बैठे बिठाया, बिना बात के, कुछ इन अर्थों में मान लें। नाम तो यह कुछ कुछ चालू सा परंतु रचनाएं कभी भी खाली पीली, बेमतलब, यूं ही, बिना बात के लिखी हुई रचनाएं नहीं होती थीं। उनके हरदम ही बड़े गहरे मतलब होते थे। रचनाएं अखबार के कॉलम की होती थीं परंतु उनमें अपने समय का एक किस्म का राजनीतिक और सामाजिक विवेचन होता था। यूं तो इन रचनाओं में तात्कालिक समाज को तुरंत के तुरंत जो घटनाएं असर डाल रही हैं, उन पर एक किस्म की चुटीली टिप्पणी ही अपेक्षित थी परंतु यज्ञ शर्मा बड़े व्यापक अर्थों में उस घटना की तह में जाकर व्यंग्य रचते थे। हमारे सामाजिक शास्त्र के गहन अध्ययन की प्रवृत्ति ही इन रचनाओं को तात्कालिक टिप्पणी से इनको बहुत ऊपर उठा देती है।

इसी किताब से एक उदाहरण देता हूं।

कमलेश्वर की आत्मकथा निकली थी तब। अपनी प्रेमिकाओं के लगभग अनर्गल वर्णन ने इसको चर्चा के केंद्र में ला दिया था। उस समय उस पुस्तक के बहाने यह बहस भी चली थी कि आत्मकथा में कितना सच झूठ चलता है। इसी बात को लेकर यज्ञ शर्मा ने अपनी एक रचना, 'खाली आत्मा पीली कथा' नाम से आत्मकथाओं की कूटनीति को लेकर लिखी थी। उसी रचना के नाम पर इस पुस्तक का नाम भी रखा गया है। यह रचना, आत्मकथा लेखक द्वारा जो सच झूठ इस तरह लिखा जाता है कि वह एक झूठी मर्दानी तस्वीर लेखक की बना सकें, उसी प्रवृत्ति के खिलाफ है। वे लिखते हैं... ''अपनी जीवनी लिखने में बड़ा फायदा होता है। आपको मर्द बनने से कोई नहीं रोक सकता। अपनी

कथा में आप अकेले मस्त मर्दाने होते हैं। बाकी दुनिया जनानी होती है।... यह आत्मकथा की कूटनीति है। अपनी कमजोरी छिपा लेनी चाहिए, दूसरे की उघार देनी चाहिए।... किसी पराई स्त्री ने मुझे कभी घास नहीं डाली लेकिन मेरी आत्मकथा में घास की कोई कमी नहीं रहेगी। बस यह तय करना है कि मेरी जिंदगी में कितनी औरतें आनी चाहिए।... मैं घरवाली से सात्विक प्रेम करूंगा। बाहरवाली से समांतर प्रेम करूंगा। मेरा बस चलेगा तो मैं समांतर प्रेम का एक आंदोलन चला दूंगा। हम समांतर वाले अपनी रखैलों को रखैल नहीं, समांतर प्रेमिका कहेंगे।... कमल पानी के ऊपर जरूर है परंतु उसकी जड़ कीचड़ में ही होती है। आत्मकथा में कीचड़ की कमी कैसे हो सकती है?...

ये रचना में से, अलग-अलग जगह से लिए गए वाक्य हैं परंतु इन्हें पढ़ कर आप इस रचना की व्यापकता और गंभीरता को समझ सकते हैं। कमलेश्वर के समांतर आंदोलन से 'समांतर' शब्द उठाकर वह इस आत्मकथा लेखक की पहचान की तरफ इशारा भर करते हैं परंतु रचना में वे जो बातें कहते हैं वे मात्र कमलेश्वर की आत्मकथा पर ही लागू नहीं होतीं। व्यापक अर्थों में वे आत्मकथा के घाट पर धोए जा रहे गंदे अधोवस्त्रों के एक बड़े भ्रष्ट दृश्य से भी पाठक को परिचित कराते हैं।

यज्ञ शर्मा हमारे पारंपरिक जीवन शैली और संस्कृति के कठोर पक्षधर भी हैं। इसी चक्कर में कई बार उनका व्यंग्य लेख एक सपाट संपादकीय जैसे कमेंट में भी बदल गया है। यह तब हुआ है जब वे किसी मुद्दे पर बेहद आक्रोश में हैं, या फिर आस-पास घट रहे को लगभग बर्दाश्त ही नहीं कर पा रहे हैं। तब वे लगभग सीधे बात करते हैं और केवल मुद्दों की ही बात करते हैं। पर वे मुद्दे में इस तरह खो जाते हैं कि वे अपनी जानी पहचानी ताकत अर्थात् व्यंग्य में बात कहने के गुण को ही तज देते हैं। उनकी 'सहमति के साइड इफेक्ट्' एक ऐसी ही रचना है। कभी यह बहस चल रही थी कि बदले हुए सामाजिक यथार्थ में क्यों न कानून एक ऐसी नई उम्र सीमा तय करे जहां लड़की कानून सम्मत सेक्स की सहमति दे सके।

यज्ञ शर्मा ने सालों तक, मुंबई के नवभारत टाइम्स में एक नियमित कॉलम 'खाली पीली' के नाम से लिखा था- खाली पीली का मतलब? बस यूं ही, बेमतलब, बस यूं ही बैठे बिठाया, बिना बात के, कुछ इन अर्थों में मान लें। नाम तो यह कुछ कुछ चालू सा परंतु रचनाएं कभी भी खाली पीली, बेमतलब, यूं ही, बिना बात के लिखी हुई रचनाएं नहीं होती थीं। उनके हरदम ही बड़े गहरे मतलब होते थे। रचनाएं अखबार के कॉलम की होती थीं परंतु उनमें अपने समय का एक किस्म का राजनीतिक और सामाजिक विवेचन होता था। यूं तो इन रचनाओं में तात्कालिक समाज को तुरंत के तुरंत जो घटनाएं असर डाल रही हैं, उन पर एक किस्म की चुटीली टिप्पणी ही अपेक्षित थी परंतु यज्ञ शर्मा बड़े व्यापक अर्थों में उस घटना की तह में जाकर व्यंग्य रचते थे।

यज्ञ शर्मा बेहद गंभीर होकर इस सारी समस्या पर विचार करते हैं। वे लिख रहे हैं ''... कानून सहमति की उम्र खोज रहा है। सहमति उसको कहते हैं जिसके बाद लड़की यह नहीं कह सकती कि उससे बलात्कार किया गया है।... कुछ जानकार लोगों का सुझाव है कि सहमति की उम्र 16 साल होनी चाहिए। आज 16 साल की लड़की दसवीं क्लास में पढ़ती है।... वह स्कूल जाने वाली बच्ची होती है। अगर सहमति की उम्र 16 साल हो गई तो दसवीं क्लास में पढ़ने वाली लड़की कानूनन सहमति दे सकेगी। यही नहीं, अगर लड़की पढ़ने लिखने में अच्छी न हो और साल दो साल फेल हो जाए तो वह छठी सातवीं क्लास में ही सहमति देने लायक हो जाएगी। जो लोग 16 साल की उम्र में सहमति की बात करते हैं वह शायद मानते हैं कि सहमति का बुद्धि समझदारी और जिम्मेदारी से कोई संबंध नहीं होना चाहिए। होना चाहिए तो केवल उम्र से 16 साल की उम्र से।''

पर ऐसी सपाटबयानी बहुत कम जगह पर हुई है। प्रायः रचनाएं एकदम उस जाने पहचाने अद्भुत व्यंग्य शिल्प की हैं जिसके लिए यज्ञ शर्मा पहचाने जाते थे। इस किताब में 'खाली पीली' स्तंभ के अतिरिक्त भी यहां वहां स्वतंत्र रूप से उनकी जो रचनाएं छपी हैं, उसमें से भी चुनिंदा रचनाएं रखी गई हैं। (जैसे 'बुर्के में चांद', 'पब्लिसिटी का नाभि सिद्धांत', 'हीरोइन समाचार', 'छोटा कपड़ा बड़ा फैशन', 'वर्षा रितु संहार' आदि।)

निश्चित ही नित्य लिखे गए नियमित कॉलम में तत्कालीन घटनाएं और तत्कालीन व्यक्ति का जब जिक्र नामजद ढंग से आता है तो बाद में उस प्रसंग तथा व्यक्ति की याद धूमिल होने के बाद सारी रचना का रंग उड़ता जाता है। यह तथ्य नियमित कॉलम लिखने वाले के लिए एक खतरा भी होता है, और चुनौती भी। यज्ञ शर्मा ने इसे एक चुनौती के तौर पर लिया है जैसे कि शरद जोशी ने कभी लिया था। वे अपनी रचनाओं में किसी तात्कालिक घटना का जिक्र जरूर कर रहे हैं परंतु इस बहाने प्रवृत्तियों की गहराइयों में जाकर विसंगतियों को तलाशते हैं और उन्हें उघाड़ कर अपने पाठकों के समक्ष यूं प्रस्तुत करते हैं कि पाठक उस घटना के नितांत नए पक्ष से परिचित हो जाता है। यही कारण है कि उनकी इन रचनाओं का रंग समय के साथ उड़ा नहीं है वर्ना आज भी वैसा ही चमकदार और दिलकश बना हुआ है।

इस किताब को पढ़ते हुए एक बात मुझे लगातार बहुत अखरती रही है कि इसमें न तो प्रकाशक के किसी नोट द्वारा, न ही कोई छोटी-सी भूमिका देकर पाठक को यह बताया गया है कि क्या ये सारी रचनाएं मात्र उनके 'खाली पीली' स्तंभ से ही ली गई हैं, या इनमें अन्य स्वतंत्र रचनाएं भी संकलित हैं? यह सब पाठक के विवेक पर छोड़ दिया गया है। रचनाओं की सूची में जरूर कुछ वर्गीकरण-सा किया गया है जो इतना अस्पष्ट है कि सूचित कम करता है भ्रम ज्यादा पैदा करता है। बहरहाल, इनमें बहुत-सी रचनाएं फिल्म जगत को लेकर हैं या उस बहाने लिखी गई हैं। ऐश्वर्या राय की शादी, लिंजी लोहान का बॉलीवुड, फिल्मों में चुंबन, फिल्मों में हीरोइन का बोल्ड हो जाना, हीरो से शादी, आती क्या खंडाला, बुर्के में चांद, हीरोइन समाचार, पब्लिसिटी का नाभि सिद्धांत आदि बहुत-सी रचनाएं वैसे तो मूलतः फिल्मों को लेकर हैं (और मुंबई में रहने वाले लेखक का ऐसा होना स्वाभाविक-सा लगता है) परंतु यज्ञ शर्मा इन रचनाओं में केवल फिल्मी जुमलेबाजी करके नहीं रह जाते हैं। वे फिल्मों से शुरू करके समाज में और गहरे उतर जाते हैं। फिल्मी दुनिया में जो कुछ भ्रष्ट घट रहा है उसके बरअक्स वे समस्त समाज को आईना दिखाते हैं।

एक नई-नई एक्ट्रेस फिल्मों में आकर बड़े बोल्ड स्टेटमेंट्स देकर अपनी जगह बनाने की दयनीय कोशिश करती है। वह पिछले दरवाजे से सफल होने का रास्ता तलाश रही है। इसी को लेकर लिखी 'लक्ष्मण रेखा नहीं' नामक रचना में यज्ञ शर्मा नई एक्ट्रेस से सवाल जवाब के बहाने से कई महत्वपूर्ण बातें करते हैं। यह दूसरी तरह से नारी विमर्श है। उसी रचना का एक अंश प्रस्तुत है जिससे मेरी बात स्पष्ट होगी। 'नई एक्ट्रेस ने फिल्म नगरी में पहला कदम रखा और सबसे पहला वक्तव्य दिया मेरी कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है। यह वक्तव्य बहुत ही अर्थपूर्ण है। जितना सोचा जाएगा उतने अर्थ निकलेंगे। जितने सवाल पूछे जाएंगे, उतने जवाब मिलेंगे।

सवाल : आपकी कोई लक्ष्मण रेखा क्यों नहीं है?

जवाब : क्योंकि मेरा कोई लक्ष्मण नहीं है।

सवाल : आपका कोई लक्ष्मण क्यों नहीं है?

जवाब : क्योंकि मेरा कोई राम नहीं है, जहां राम होता है, लक्ष्मण भी वहीं होता है ना।

सवाल : आपका कोई राम क्यों नहीं है?

जवाब : क्योंकि मुझे रावण मिल गया है।

सवाल : लक्ष्मण रेखा न होने का मतलब क्या होता है?

जवाब : जिस लड़की की कोई लक्ष्मण रेखा नहीं होती वह बहुत खुला दिमाग रखती है।

सवाल : खुला दिमाग रखने का मतलब?

जवाब : मतलब उसके घर का रास्ता खुला है, घर का दरवाजा खुला है, बेडरूम की लाइट खुली है।

सवाल : बेडरूम की लाइट क्यों खुली है?...

बलात्कार को लेकर भी कुछ बेहद गंभीर बातें अपने ही अंदाज में कई रचनाओं में यज्ञ ने की हैं। देखा जाए तो बिना नारी विमर्श का कोई हल्ला किए वे नारी के पक्ष में बहुत सारा लिख कर गए हैं। इस किताब में ही लगभग आधी रचनाएं किसी न किसी बहाने से नारी और उसके जीवन की पड़ताल करती है। कुछ रचनाएं सीधे ही बलात्कार पर ही हैं। 'गलती की परतें' और 'नवीन नायिका बलत्क्रत' को पढ़ कर देखें।

ऐसे ही भारत की रेप राजधानी भी एक अद्भुत रचना है जहां वे दिल्ली में रह रही महिलाओं को सावधान करते हुए कई चेतावनियां देते हैं। चेतावनी नंबर एक - यह दिल्ली है। नंबर दो -यहां बलात्कार होते हैं। महिलाओं से निवेदन है कि वह सावधान रहें। सावधानी हटी, इज्जत लुटी। नंबर तीन - महिलाएं जब भी घर से निकलें, दिन में ही निकलें। वैसे दिन में बलात्कार नहीं होगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है। यह दिल्ली है। यहां किसी बात की गारंटी नहीं होती।

इस पुस्तक में हम यज्ञ शर्मा के व्यंग्य के व्यापक दायरे से भी परिचित होते हैं। उनके विषय अनंत हैं। वे राजनीति, फिल्म, शादी, प्रेम, पत्नी की पिटाई, ज्योतिषी, डेमोक्रेसी, पिछड़ापन से लगा कर बड़े आदमी की बड़ी बीवी तक, सब तरफ पहुंच कर वे अपने विषय चुनते हैं पर विषय चुनना ही पर्याप्त नहीं होता। वे फिर इस विषय को अपनी ही भाषा और चुटीले वाक्यों के जरिए एक मुकम्मल व्यंग्य रचना में तब्दील करते हैं। यज्ञ शर्मा की व्यंग्य की अपनी भाषा है। छोटे वाक्य रचने में वे कई बार शरद जोशी के शिल्प के मर्म को छू लेते हैं परंतु वे अपनी पहचान खुद बनाते हैं। ज्यादातर रचनाओं में वे यज्ञ शर्मा ही रहते हैं जो एक अपनी ही तरह का बड़ा व्यंग्य लेखक था। 'खाली आत्मा, पीली कथा' को पढ़ना हिंदी व्यंग्य की ताकत से आपका एक नया परिचय कराता है। व्यंग्य के नियमित कॉलम में भी शाश्वत महत्व की रचनाएं रची जा सकती हैं, यह बात यज्ञ शर्मा की इस किताब को पढ़कर बार-बार महसूस होती है। इस किताब को जरूर पढ़िए। अच्छा लगेगा। मैं यूं भी इस बात के लिए बहुत बदनाम हूं कि मैं किसी व्यंग्य की किताब की यूं आसानी से तारीफ नहीं किया करता। पर क्या करूं? यह किताब बाकायदा काबिले तारीफ है ही। ■

समय का खूबसूरत दस्तावेज

■ **स्वतंत्र मिश्र**
मीडियाकर्मी

संपर्क :
द्वारा - श्री राजशेखर रेड्डी
6-1-171/ए, द्वितीय तल
फेज-1, गुरूद्वारा रोड, वनस्थलीपुरम,
हैदराबाद-500070 (तेलंगाना)

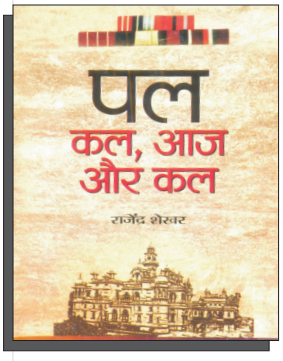

पुस्तक : पल कल, आज और कल
लेखक : राजेंद्र शेखर
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 255
मूल्य : ₹ 400

'पल कल, आज और कल' एक भारतीय पुलिस अधिकारी (आईपीएस) की आत्मकथा है। इस पुस्तक में उनकी जन्मस्थली भरतपुर से लेकर, स्कूल, कॉलेज, प्रेम, शादी, पुलिस सेवा को दी गई उनकी सेवाओं के बारे में बहुत ही रोचक जानकारियों के साथ पेश किया गया है। आत्मकथा लेखक राजेंद्र शेखर की भाषा में कोमलता के भाव हैं। उनके लेखन में जीवन से निकले मुहावरे हैं। जीवन के भाव घटनाओं की विवेचनाओं में छन-छनकर जब-तब उतर आते हैं। किस्सा सुनाने में आसपास के लोगों के उनके मनोविज्ञान समझने की काबिलियत उन्हें बड़ा लेखक बनाता है। इस किताब की शुरुआत ही चौंकाती है। लेखक के पिता बीमार हैं और हॉस्पिटल के बिस्तर पर पड़े हैं। उनके साथ एक लड़के की ड्यूटी इसलिए लगाई है ताकि वह उन्हें अखबार पढ़कर सुनाए। एक आदमी जो जीवन-मरण के बीच झूल रहा है। वह अपनी सांसें गिन रहे हैं। ऐसे अक्षम और कमजोर होते हुए व्यक्ति को इसकी फिक्र सताती है कि उसके अपने आसपास और दूर-दराज की दुनिया में क्या घट रहा है? अब आज के संदर्भ में ये बात किसी को अजीब सी लग सकती जब सूचनाओं और खबरों की हम तक पहुंचने के कई प्लेटफार्म और फॉर्मेट गढ़ लिए गए हैं। पर क्या वाकई हमें खबरों के बारे में जानने की इतनी ललक रहती है? क्या हम यह जानना चाहते हैं कि वाकई कोई घटना घटी तो क्यों घटी? क्या हम घटनाओं की जानकारियों से आगे बढ़कर उसके विश्लेषण में जाना चाहते हैं? हकीकत तो यह है कि हम घटनाओं से बेखबर रहना चाहते हैं तभी नो नेगेटिव न्यूज जैसे नारे गढ़े जा रहे हैं। यही वजह है न्यूज बिजनेस करने वाले संस्थान अब इंटरटेनमेंट बिजनस की ओर बढ़ चला है।

किसी के भी व्यक्तित्व के निर्माण में उसके परिवार (खासतौर पर मां-पिता) के माहौल की बहुत बड़ी भूमिका होती है। राजेंद्र शेखर अपने मां-बाबूजी के बारे में लिखते हैं-'अम्मा की खासियत उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण में निहित थी, उन्हें भौतिक दुनियादारी के दांव-पेंच के बारे में बाबूजी से कहीं अधिक पहचान थी, लेकिन अवचेतन में विद्यमान आध्यात्मिक सोच अम्मा की समझ से परे थी, वह सोच जिसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक और प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम से होती है, स्पष्ट क्रियान्वयन से नहीं। बाबूजी का प्रबल पहलू था आध्यात्म, जिसका एक पहलू मेरे सिर पर निष्ठापूर्वक हाथ फेरकर सहृदय आशीर्वाद देना था। हालांकि, लेखक अपनी बचपन की एक घटना का जिक्र करते हैं और बाल्यावस्था से किशोरावस्था में प्रवेश कर रहे बालक के मनोभाव को पकड़ने की कोशिश करते हैं। वे लिखते हैं-'जीवन की तेरहवीं वर्षगांठ का एक अपना ही महत्व है, लड़का वयस्क होने के प्रारंभिक पायदान पर पहुंच जाता है और स्वतः ही अपनी भौतिक काया की देखरेख में कुछ जरूरत से ज्यादा ही ध्यान देने लगता है। जब मैं छुट्टियों में स्कूल से घर आया तो अम्मा (मेरी मां) ने मुझे प्यार से अपनी बांहों में समा लिया, जब बाबूजी की बारी आई तो वे बड़े चाव, हाव-भाव और लगाव से अपनी चिरपरिचित भंगिमा के अनुरूप दाहिनी हथेली से मेरे सिर के बालों को अस्त-व्यस्त करने में व्यस्त हो गए, जब मैं थोड़ा बिचका तो अम्मा उनसे व्यंगात्मक लहजे में बोली, 'बेटा बड़ा हो गया है, अब उसे अपने बाल संवारकर रखना पसंद है।' बाबूजी कुछ खिसियाते हुए मुस्कराए, लेकिन चुप रहे।

प्रेम चीजों को विस्तार देता है। एक-दूसरे को पुष्पित और पल्लवित करता है। लेखक ने बहुत बारीकी से अपने संबंधों के बीच घटित हुए ऐसे वाक्यों को पकड़ा और पेश किया है। मसलन, दोनों के बीच कई ऐसे मौके उपस्थित हुए जो नोक-झोंक का कारण बन सकते थे, पर लेखक ने बहुत चातुर्य के साथ उन्हें हमेशा सुलझाया। ऐसे ही एक उदहारण का जिक्र यहां करना चाहूंगा। राजेंद्र शेखर एक बार हॉस्पिटल में दाखिल हुए तब उनकी पत्नी शीला सेवा के दरम्यान समय का सदुपयोग करने के लिए 'सुटेबल बॉय' पढ़ रही थीं। बकौल, राजेंद्र शेखर उनकी पत्नी शीला पढ़ने की बहुत शौकीन हैं और खूब पढ़ती हैं। पर, वह किताब कहां तक (पन्ने) पढ़ ली गई है, यह याद रखने के लिए पन्ने का कोना मोड़ देती थीं। लेखक महोदय ने उनकी यह आदत छुड़ाने के लिए शादी-ब्याह के लिए आए निमंत्रण कार्ड के इंटरेस्टिंग और खूबसूरत दिखने वाले हिस्से को काटकर बुक मार्क बनाकर पत्नी को देने लगे। किताब

के पन्नों के कोने को मोड़ने की आदत तो छूट गई, पर नई आफत ज्यादा ऊब भर देने वाली और परेशान कर देने वाली थी। लेखक कहां पीछे रहने वाले थे। फिर तरकीब निकाली। अब चूंकि किताब किसी मित्र से उधार लाई गई थी इसलिए उसे सहेजकर रखना ज्यादा जरूरी थी। किताब कहां तक पढ़ी गई, इसे याद रखने के लिए बुक मार्क लगाई जा रही थी पर नियत पंक्ति की बात दोबारा पढ़ना शुरू करने के समय ठीक-ठीक याद नहीं आने से काफी समय बरबाद हो रहा था। राजेंद्र शेखर ने अपनी पत्नी से शर्त लगाते हुए कहा- ''उनके द्वारा किताब का अध्ययन पूरा होने से पहले ही मुझे अस्पताल से छुट्टी मिल जाएगी।'' लेखक आगे बताते हैं- नतीजतन, वे बड़े ध्यानपूर्वक पुस्तक-चिह्न रखने लगीं और यह विक्रम सेठ की आकर्षक शैली और निपुणता एवं श्रीमतीजी का मिला-जुला नमूना ही समझें कि वे इस किताब को समय-सीमा से कहीं पहले खत्म करने में सफल रहीं। तबतक अस्पताल से छुट्टी होना तो दूर, मैं बिस्तर से उठकर कमरे में थोड़ी-बहुत चहलकदमी भी कर पाने में असमर्थ था।

आत्मकथा में लेखक ने अपने रिश्तेदारों का जिक्र बहुत सलीके से किया है। वे अपने एक चाचा और चाची के बारे में ऐसे बताते हैं जैसे कोई कहानी रच रहे हों। वे बर्टेंड रसेल को उद्धृत करते हैं और कहते हैं उनके चाचा मौन और शून्य की मुद्रा में रहते और छत की सीलिंग को ताकते हुए घंटों बिता देते। चाची के बारे में बताते हुए कहते हैं- एक ठेठ पंजाबन, पूर्ण व्यवस्थित और अनवरत गतिशील महिला थीं। जब चाची प्रचारक का रूप धारण करतीं तो चाचा एक समर्पित अनुयायी के मानिंद बड़े ध्यान से उनका प्रवचन सुनते और उनके चले जाने के बाद वापिस सिफरनुमा स्थिरता की स्थिति में आ जाते। मानों एक नाव तूफान के वेग से हिचकोले खाने लगे और तूफान के गुजर जाने पर पुनः निश्चल हो जाए, जैसे एक कछुए की पीठ पर से बेअसर बहता पानी।

किसी के भी व्यक्तित्व के निर्माण में उसके परिवार (खासतौर पर मां-पिता) के माहौल की बहुत बड़ी भूमिका होती है। राजेंद्र शेखर अपने मां-बाबूजी के बारे में लिखते हैं-'अम्मा की खासियत उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण में निहित थी, उन्हें भौतिक दुनियादारी के दांव-पेंच के बारे में बाबूजी से कहीं अधिक पहचान थी, लेकिन अवचेतन में विद्यमान आध्यात्मिक सोच अम्मा की समझ से परे थी, वह सोच जिसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक और प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम से होती है, स्पष्ट क्रियान्वयन से नहीं। बाबूजी का प्रबल पहलू था आध्यात्म, जिसका एक पहलू मेरे सिर पर निष्ठापूर्वक हाथ फेरकर सहृदय आशीर्वाद देना था।

लेखक की शिक्षा-दीक्षा मसलन् स्कूल और कॉलेज ऐतिहासिक संस्थानों में हुई, सो वहां के किस्से भी पाठकों को रुचिकर लगेंगे। उनके स्कूल की पढाई मेयो में और कॉलेज की सेंट स्टीफेंस से हुई। मेयो में रियासत और रजवाड़ों के मालिकों के बच्चे पढ़ते थे। ऐसे में भरतपुर रियासत में काम करने वाले एक साधारण आय वाले आदमी के बेटे ने स्कूल को कैसे देखा होगा, यह उन्हीं के शब्दों में समझने का मजा है। लेखक मेयो के माहौल के बारे में बताते हैं-'हालांकि मेयो की नींव सामंती माहौल में डाली गई थी और 'गन सलूट' के आधार पर परस्पर ऊंच-नीच की अमिट पृष्ठभूमि बरकरार थी, बावजूद इसके मेयो के शिक्षक और प्रशासनिक तबके द्वारा समानाधिकारवादी व्यवस्था स्थापित करने की जद्दोजहद जारी रहती थी, जो निश्चित ही एक दुर्लभ अपेक्षा थी, फिर भी कुछ प्रशिक्षक/कर्मी ऐसे थे, जिन्होंने अपने बर्ताव को इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से प्रभावित कतई नहीं होने दिया।

कई बार आप जिंदगी में अपनी आर्थिक हैसियत से बहुत ज्यादा हासिल कर लेते हैं तब आपको पूरी कायनात बहुत खूबसूरत लगने लगती है। आप नए माहौल में रच-बस जाते हैं। अचानक एक दिन पता चलता है कि आपकी ये दुनिया आपकी नहीं, बल्कि किसी की रहमोकरम की दुनिया है। ठीक ऐसा ही इस किताब के लेखक के साथ होता है। बालक राजेंद्र का खर्च भरतपुर का रियासत उठा रहा था। राजेंद्रजी के पिता भरतपुर रियासत में नौकरी कर रहे थे और उनके रियासतदानों से अच्छे संबंध थे इसलिए वे बालक राजेंद्र का खर्च उठाने को तैयार थे पर पिता ने नौकरी छोड़ दी थी इसलिए अब मेयो जैसे लक्जरी वाले स्कूल का खर्च सहन करना संभव कहां हो पाता? पिता ने फीस नहीं भर पाने की वजह से मेयो न भेजने का फैसला राजेंद्र को सुनाया तब उनके बालमन पर क्या प्रभाव पड़ा, उसके बारे में वे खुद ही लिखते हैं-'मैं अपनी छोटी सी दुनिया की नैया पर बने पुल को ढहते देख, मुंह फाड़े शून्य में घूरने लगा। अमिन जानता था कि बाबूजी से विस्तृत जवाब मिलना उस वक्त नामुमकिन था। चुपचाप वहां से निकलकर मैं बड़ी अम्मां के कमरे की तरफ भागा और मैंने मेरी व्यथा, हिचकियां भरते हुए उन्हें सुनाई। हालांकि, राजेंद्र शेखर की वापसी के कारणों के बारे में जब मेयो के प्रिंसिपल को पता चला तब उन्होंने पिताजी को चिट्ठी लिखकर रियायत पर शिक्षा जारी रखने की बात की। प्रिंसिपल के प्रस्ताव को मान लिया गया और बालक राजेंद्र को पिता खुद अजमेर स्थित मेयो छोड़कर

आए। लेखक के पिता ने रियायत लेने से मना कर दिया और उसकी कीमत कार, मोटरबाइक बेचकर चुकाई। इतना ही नहीं पढाई सुचारू चल सके, इसके लिए मां के जेवर तक गिरवी रखने पड़े थे।

व्यवस्था बदलने से चीजें कैसे बदलतीं है, इसका बेहतरीन मिसाल मेयो में आजादी के बाद प्रिंसिपल के बदलने की कहानी है। मेकनलिस की जगह जब पहले स्वदेशी प्रिंसिपल टी. एन. व्यास ने लिया तब उन्होंने कहा था- 'मेयो के 75 वर्ष के सफर में जो परंपराएं स्थापित हुईं, उनको निर्मूल करने की मेरी कतई इच्छा नहीं थीं। फिर भी मैं यह चाहता था कि व्यक्तिगत सुविधाओं, पक्षपाती व्यवहार और आडंबरपूर्ण शोशेबाजी पर फिजूलखर्ची खत्म हो। ऐसा करने पर मुझे भरोसा था कि उन छात्रों में जो अपने को अलग श्रेणी का समझते थे, आत्मविश्वास का संचार होगा।' दिलचस्प बात यह थी कि प्रिंसिपल ने गणित का टीचर अलग से न रखकर खुद ही यह विषय पढ़ाना उचित समझा।

लेखक ने मेयो से पढाई पूरी करने के बाद जुलाई 1952 में कॉलेज की पढाई करने के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंट स्टीफेंस की ओर रूख किया। कॉलेज के दिनों को याद करते हुए लगभग लोग कुछ अंतरंग संबंधों के बारे में बात करना चाहते हैं। कुछ जुनूनी किस्म की बात, कुछ रोमांटिक किस्म की बातें करना चाहते हैं। क्योंकि, ये वो ही दिन होते हैं जब आपके भीतर तरह-तरह केमिकल लोचा का आविर्भाव होता है। जी हां, लेखक के साथ भी यह सब हुआ। वे खुद ही अपनी किताब में लिख रहे हैं- 'ये वे दिन थे, जब पारस्परिक प्यार का इजहार लंबी सांसों के जरिए, सीमित जेब-खर्च के सहारे तथा बिना किसी भाग-दौड़ और हड़बड़ाहट के प्रगति पथ पर धीमी, संजीदा गति से चलता रहता था, इसलिए हम उन विकल्पों की टोह में रहते थे, जिनमें खर्चा न्यूनतम और साहचर्य अधिकतम

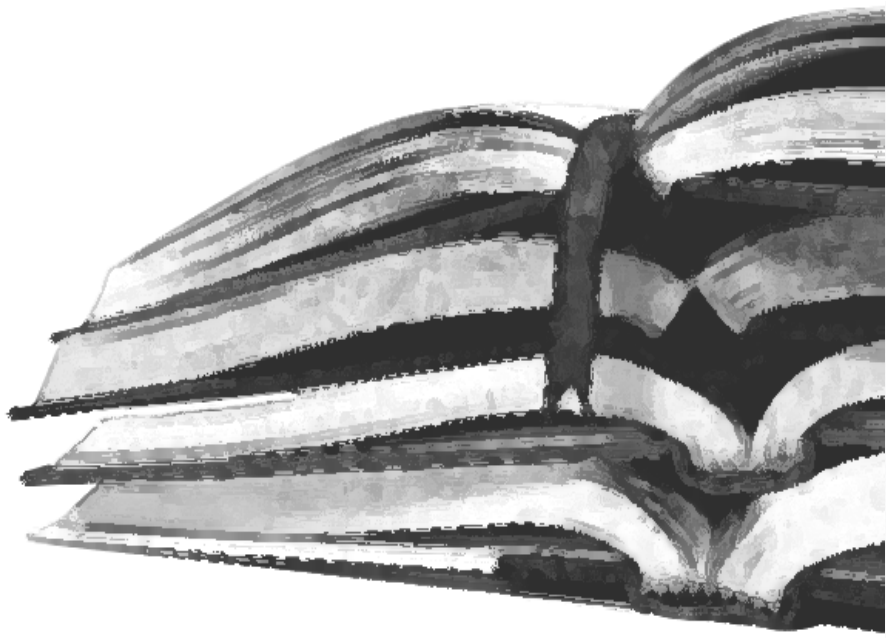

हो सके।'

प्रेम पाने के लिए आदमी कैसे छोटे-छोटे प्रयास करता है। वे प्रयास छोटे दीखते पर लगन किसी पहाड़ का सीना चीरने से कम नहीं होता। ऐसा ही प्रयास इस किताब के लेखक ने अपनी प्रेमिका (पत्नी) को पाने के लिए किया। राजेंद्रजी ने अपनी प्रेमिका शीलाजी को इंप्रेस करने के लिए पेड़ और फूल के नाम कंठस्थ किए। इस प्रयास से शीलाजी भी अचरज में पड़ती और धीरे-धीरे निकट आती गई। भला, होती भी क्यों नहीं? एक राजस्थानी आदमी पेड़ और फूल की ऐसी विषद् जानकारी जो दे रहा था। यह जानकारी राजेंद्रजी ने भले ही दिल्ली विश्वविद्यालय के माली से ग्रहण की हो। हालांकि, ये प्रयास स्त्री-पुरुष दोनों की ओर से होते हैं। जाहिर सी बात है कि शीलाजी ने भी ऐसे कई प्रयास किए जिसका वर्णन बहुत ही खूबसूरती के साथ इस किताब में हुआ है। दो बिलकुल अलग पृष्ठभूमि के लोगों के बीच प्यार, शादी में विघ्न आते हैं, सो इनके जीवन में भी आए। लेकिन, एक पाठक के लिहाज से इन समस्याओं का निराकरण लेखक ने कैसे किया, यह महत्वपूर्ण है। आत्मकथा पढ़ने के पीछे ज्यादातर पाठकों की दिलचस्पी इस बात में होती है कि उन्हें कुछ प्रेरक प्रसंग मिल जाएं। इस लिहाज से इस किताब में पाठकों के लिए बहुत कुछ है। इस किताब में उनके भारतीय पुलिस सेवा की दिए गए महत्वपूर्ण योगदान के भी बहुत किस्से हैं। राजेंद्र शेखर ने राजस्थान के पाकिस्तान से लगती सीमाओं वाले जिलों में अपना योगदान दिया। इन इलाकों में उनके योगदान किसी सेना के अधिकारी से कम नहीं रहे। यह किताब लेखक की आत्मकथा तो है ही, लेकिन इस किताब को पढ़ते हुए उस समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है। किसी की आत्मकथा उसके लेखक के समय के ऐतिहासिक दस्तावेज होते हैं और राजेंद्रजी की किताब पढ़कर इस सिद्धांत की पुष्टि भी होती है। ■

भाषा का अनुशीलन

■ **जी. गोपीनाथन**
भाषाविद्

संपर्क : सौपर्णिका, काक्कंचेरी, कालिकट यूनिवर्सिटी, कालिकट पोस्ट- 673635 (केरल)

महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण भारत में हिंदी-प्रसार का समारंभ सन् 1918 में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना करते हुए हुआ था। इस ऐतिहासिक घटना का अब सौ वर्ष हो रहे हैं। इन सौ वर्ष में हिंदी की प्रगति हिंदी प्रदेश की भाषा मात्र न रहकर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हुई। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में हिंदी पढ़ाने का उपक्रम किया था और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के संगठन के लिए स्वयं अपने पुत्र को ही दक्षिण में भेज दिया था। हिंदी प्रचार आंदोलन के परिणामस्वरूप ही सन् 1950 में भारतीय संविधान में हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। हिंदी प्रचार के क्षेत्र से ही आए मोटूरी सत्यनारायण ने 1970 के दशकों में प्रयोजनमूलक हिंदी की संकल्पना विकसित कर हिंदी आंदोलन को एक नया आयाम दिया। सन् 1975 में गांधीजी के शिष्य मधुकरराव चौधरी, शंकरराव लोढ़े, अनंत गोपाल शेवड़े आदि के प्रयासों से नागपुर में पहला विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित हुआ और उसी के साथ ही विश्वभाषा के रूप में हिंदी को मान्यता मिलनी शुरू हुई। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना (1997), विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना (2008) तथा इधर संपन्न हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों के द्वारा विश्वभाषा हिंदी के विभिन्न पहलू उजागर हुए। विश्वभाषा में हिंदी के साहित्य का व्यापक फलक सामने आया, परंतु हिंदी के छात्र एवं गतानुगतिकता पसंद करने वाले कई अध्यापक हिंदी को केवल हिंदी प्रवेश की मातृभाषा के रूप में देखते-पढ़ते आ रहे हैं। इस स्थिति का प्रमुख कारण परंपरागत पाठ्यक्रम को पढ़ाने का आग्रह एवं हिंदी भाषा और साहित्य के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली किताबों का अभाव है। हमें बताते हुए खुशी है कि डॉ. महावीर सरन जैन का 'भारत की भाषाएं एवं भाषिक एकता तथा हिंदी' हिंदी के इस राष्ट्रीय एवं वैश्विक फलक को दृष्टि में रखकर लिखा गया एक मानक ग्रंथ है। डॉ. महावीर सरन जैन ने पहले 'परिनिष्ठित हिंदी का वर्णनात्मक अध्ययन', 'भाषा एवं भाषाविज्ञान' आदि किताबें प्रकाशित की थीं और जबलपुर और आगरा में केंद्रीय हिंदी संस्थान में रहकर हिंदी की कई व्यापक परियोजनाओं को कार्यान्वित किया था। रोमनिया में हिंदी के अतिथि प्राचार्य रहते हुए तथा अपने अमेरिका प्रवास के दौरान उन्हें विश्व भाषा हिंदी पर चिंतन करने का अवसर मिला। इन सब अनुभवों और अपने व्यापक अध्ययन और चिंतन के फलस्वरूप उन्होंने यह किताब लिखी है। ऐसा लगता है कि ई-पत्रकारिता से संपर्क भी उन्हें इस तरह की एक किताब हिंदी में प्रस्तुत करने के लिए प्रेरक हुआ।

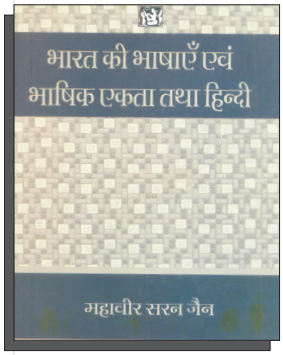

पुस्तक : भारत की भाषाएं एवं भाषिक एकता तथा हिंदी
लेखक : महावीर सरन जैन
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
पृष्ठ : 440
मूल्य : ₹ 1000

'भारत की भाषाएं एवं भाषिक एकता तथा हिंदी' इस ग्रंथ में दो खंड हैं। पहले खंड में संसार के भाषा परिवार भारत की भाषाएं, आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास-क्रम, भारतीय भाषाओं की एकता तथा समानता का विवेचन पांच अध्यायों में विस्तार से किया है। दूसरे खंड में हिंदी की अंतर क्षेत्रीय, अंतर देशीय एवं अंतर राष्ट्रीय भूमिकाओं पर विचार किया गया है। पहले खंड में संसार की भाषाओं एवं भारत की भाषाओं पर नवीनतम जानकारियां दी गई हैं, अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया गया है। लेखक ने इस तथ्य को उजागर किया है कि भारत में भाषाओं, प्रजातियों, धर्मों, सांस्कृतिक परंपराओं एवं भौगोलिक परिवेश का असाधारण एवं अद्वितीय वैविध्य होते हुए

भी भारतीय भाषाओं के बीच गहरा साम्य वर्तमान है। विश्व के इस सातवें विशाल देश को पर्वत तथा समुद्र शेष एशिया से अलग करते हैं जिससे यहां की भाषाओं की अलग पहचान बन गई है। प्रत्येक भारतीय भाषा की अविरत एवं समूह सांस्कृतिक विरासत है। राष्ट्र की अखंड मानसिकता यहां की भाषाओं के अंतःसंबंधों एवं एकता पर भी प्रतिफलित है। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता की विशिष्टता भारत में बोली जानेवाली भिन्न परिवारों की भाषाओं के बीच एकता और समानता के रूप में हमें महसूस होगी। इस कारण से भारत एक 'विशिष्ट भाषा क्षेत्र' बन गया है। डॉ. जैन का विचार है कि भारत की भाषाओं के अध्ययन के लिए नए प्रतिमानों एवं नई दृष्टि की आवश्यकता है। उनका कथन है कि भारत में बोली जानेवाली भिन्न परिवार की भाषाओं के समान कोड के वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक अध्ययन की आवश्यकता असंदिग्ध है। किसी भी विषय का भेद-दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें अंतर, असमानताएं एवं भिन्नताएं अधिक दिखाई देती हैं। उसी विषय का अभेद-दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें एकता एवं समानता के अनेक बिंदु मिलेंगे। कुछ विदेशी विद्वानों एवं भाषा वैज्ञानिकों से प्रेरित होकर भारतीय विद्वानों ने भी भारत की भाषाओं के बीच भेदों की जांच-पड़ताल बहुत की है। डॉ. जैन ने बाल की खाल निकालने की इस सतही प्रवृत्ति से बचते हुए भारत की भाषिक एकता की अवधारणा को अधिक उजागर किया है जो आगे के अध्ययनों के लिए प्रेरक रहेगा। इस दृष्टि से ग्रंथ के तीसरे और पांचवें अध्यायों में प्रस्तुत विचार अत्यंत महत्वपूर्ण लगते हैं।

19वीं शताब्दी फ्रेंच भाषा की थी और बीसवीं शताब्दी अंग्रेजी की रही है। डॉ. जैन ने यह प्रत्याशा प्रकट की है कि इक्कीसवीं शताब्दी हिंदी भाषा की होगी। मातृभाषा और अन्य भाषा के रूप में हिंदी बोलने वालों की संख्या, हिंदी भाषा के व्यवहार क्षेत्र का व्यापक और विस्तार, हिंदी भाषा एवं लिपि की संरचनात्मक विशेषताएं, भविष्य में कंप्यूटर के क्षेत्र में 'टेक्स्ट टु स्पीच' एवं 'स्पीच टु टेक्स्ट' के विकास की हिंदी में संभावना, कंप्यूटर अनुवाद की हिंदी में प्रगति, प्रवासी भारतीयों की संख्या, श्रमशक्ति एवं प्रतिभा में निरंतर अभिवृद्धि आदि को उन्होंने इस भविष्यवाणी का आधार बताया है। इस दृष्टि से उन्होंने ग्रंथ के सातवें अध्याय में ध्यान आकर्षित किया है कि लोगों की आमधारणा है कि हिंदी और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएं हैं। लेकिन व्याकरणिक विश्लेषण से पता चलेगा कि वे व्याकरणिक दृष्टि से एक ही भाषा के रूप हैं। अतः उनके बीच अद्वैत है। बोलचाल की सहज भाषा में यह एकता ज्यादा स्पष्ट है। अंग्रेजों की कूटनीति के कारण हिंदी और उर्दू का अलगाव पैदा हुआ, लेकिन जनता के लिए उनमें कोई फर्क नहीं, वे बोलचाल में लगभग एक ही तरह की भाषा का प्रयोग करते हैं। हिंदी भाषा की व्यापकता में यह साम्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। आठवें अध्याय में मध्यकाल से लेकर हिंदी काव्य भाषा को जो अखिल भारतीय स्वरूप बना, उस पर प्रकाश डाला गया है। भारत की सामान्य या संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के विकास में भक्ति आंदोलन, स्वतंत्रता आंदोलन एवं हिंदी प्रचार आंदोलन की महती भूमिका रही है। आधुनिक काल में जनसंचार माध्यमों के विकास के कारण हिंदीतर प्रदेश में सृजित हिंदी साहित्य भी प्रकाश में आ रहा है, जो हिंदी के विकास की एक नई दिशा है। नवें अध्याय में राष्ट्रभाषा हिंदी तथा हिंदी भाषा की अंतर्देशीय भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। ज्यादातर प्रकाशित भाषिक आंकड़ों के अनुसार मातृभाषा भाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में चीनी भाषा के बाद सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी है। हिंदी-उर्दू के बोलचाल के रूप को और अन्य भाषा के रूप में हिंदी बोलनेवालों की संख्या को भी परिगणित करें तो शायद बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से हिंदी का स्थान विश्व में प्रथम होगा।

'भारत की भाषाएं एवं भाषिक एकता तथा हिंदी' इस ग्रंथ में दो खंड हैं। पहले खंड में संसार के भाषा परिवार भारत की भाषाएं, आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास-क्रम, भारतीय भाषाओं की एकता तथा समानता का विवेचन पांच अध्यायों में विस्तार से किया है। दूसरे खंड में हिंदी की अंतर क्षेत्रीय, अंतर देशीय एवं अंतर राष्ट्रीय भूमिकाओं पर विचार किया गया है। पहले खंड में संसार की भाषाओं एवं भारत की भाषाओं पर नवीनतम जानकारियां दी गई हैं, अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया गया है। लेखक ने इस तथ्य को उजागर किया है कि भारत में भाषाओं, प्रजातियों, धर्मो, सांस्कृतिक परंपराओं एवं भौगोलिक परिवेश का असाधारण एवं अद्वितीय वैविध्य होते हुए भी भारतीय भाषाओं के बीच गहरा साम्य वर्तमान है।

'भारत की भाषाएं एवं भाषिक एकता तथा हिंदी' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में भारत की भाषाओं और बहुभाषिकता पर विचार करते हुए भारत के प्रमुख भाषा-परिवारों-भारोपीय परिवार, द्रविड़ परिवार, आग्नेय परिवार एवं सिनो-तिब्बती परिवारों की भाषाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास-क्रम भी विस्तार से दिया गया है, विशेषकर अपभ्रंश से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास-क्रम भी

विस्तार से दिया गया है, विशेषकर अपभ्रंश से आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास को सोदाहरण समझाया गया है। पांचवें अध्याय में भारत की भाषाओं की समानता एवं एकता पर पुनर्विचार किया गया है। भारत की भाषाओं की भाषिक समानता एवं एकता का प्रमुख कारण उनका आपसी सामाजिक संबंध एवं भारत की सांस्कृतिक एकता बताया गया है। एक अन्य कारण संस्कृत, प्राकृत आदि का सदियों से सामान्य भाषा के रूप में व्यवहार है। उदाहरण के लिए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और द्रविड़ परिवार की भाषाओं के बीच जो साम्य है, वह आश्चर्यजनक है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के परसर्गों की रचना प्राचीन आर्य भाषाओं से भिन्न है जबकि आधुनिक भारतीय आर्य परिवार की भाषाओं में परसर्गों का जो विकास हो रहा है, वह द्रविड़ परिवार की भाषाओं की व्याकरणिक व्यवस्था के अनुरूप है। भाषिक संपर्कों से ही ऐसी समानता संभव हुई है। फिनलैंड के बर्निल निक्कानेन जैसे विद्वानों के अनुसार इसका प्रमुख कारण द्रविड़ भाषाओं में समाहित होना है। कुछ रूसी विद्वानों ने पहले ही यह विचार प्रकट किया था कि आर्य और द्रविड़ भाषाएं मूल रूप से एक ही विस्तृत भाषा परिवार से विकसित हुई हैं जिससे वे 'नोस्ट्राटिक परिवार' कहते हैं। डॉ. महावीर सरन जैन ने आधुनिक आर्य भाषाओं और द्रविड़ भाषाओं में पदबंध स्तरीय एवं वाक्यस्तरीय समानताओं को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया है। उन्होंने विद्वानों का ध्यान इस अद्‌भुत भाषिक समानता के विभिन्न पहलुओं की ओर आकर्षित किया है। हमारे विचार में इस प्रकार का अध्ययन भारतीय भाषाओं के बीच यंत्रानुवाद के संदर्भ में बहुत ही सहायक सिद्ध होगा।

ग्रंथ के छठे अध्याय में हिंदी भाषा का क्षेत्र एवं हिंदी के क्षेत्रीय रूपों का निरूपण है। प्रादेशिकता की सीमा को लांघकर भारत की सार्वदेशिक अथवा संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के विकास की पृष्ठभूमि पर इस किताब में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। दसवें अध्याय में राजभाषा हिंदी के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है। लेखक ने स्वीकार किया है कि वर्तमान स्थिति में नाम के वास्ते संघ की राजभाषा हिंदी है और अंग्रेजी सहराजभाषा है, जबकि वास्तव में अंग्रेजी राजभाषा है और हिंदी केवल सह-राजभाषा। उनके अनुसार प्रशासनिक भाषा को सरल बनाने की दिशा में पहल होगी तो राजभाषा हिंदी और जनभाषा हिंदी का अंतर कम होगा। उनके अनुसार वही राजभाषा लोक में स्वीकार्य होगी जो सहज-सरल, बोधगम्य हो, लेकिन वर्तमान माहौल में यह बहुत ही कठिन कार्य होगा। ग्रंथ के ग्यारहवें अध्याय में प्रयोजन मूलक हिंदी के सभी पहलुओं का विवेचन है।

उक्त ग्रंथ के दूसरे खंड में हिंदी भाषा की अंतरराष्ट्रीय भूमिका का निरूपण किया गया है। हिंदी के लिए विदेशी विद्वानों का योगदान, विशेषकर प्रमुख व्याकरणिक ग्रंथों पर इसमें विचार किया गया है। तेरहवें अध्याय में विदेशों में हिंदी शिक्षण की समस्याओं और उनके लिए संभावित समाधान पर विचार है। पंद्रहवें अध्याय में द्वितीय महायुद्ध के बाद विदेशों में हिंदी साहित्य सृजन एवं साहित्य समीक्षा पर विचार किया गया है। विदेशी भाषाओं में अनुदित हिंदी की साहित्यिक रचनाओं पर सोलहवें अध्याय में विचार किया गया है। सत्रहवें अध्याय में संयुक्त राष्ट्रों में हिंदी के प्रवेश की समस्याओं पर विचार है। हिंदी के मानकीकरण की समस्याओं पर भी गंभीर रूप से विचार किया गया है। हिंदीतर प्रदेशों में हिंदी प्रचार आंदोलन के फलस्वरूप हिंदी-लेखन और प्रयोग का विस्तार हुआ है। इसी तरह विश्वभाषा हिंदी की व्यापकता के साथ हिंदी भाषा का स्वरूप भी काफी कुछ परिवर्तित हुआ है। विश्व हिंदी साहित्य-लेखन, जनसंचार में हिंदी का प्रयोग तथा विश्व भाषाओं के संपर्क के कारण विश्वभाषा हिंदी का जो व्यापक स्वरूप बन रहा है, उसके अध्ययन में प्रस्तुत किताब मार्गदर्शक हो सकती है।

वर्तमान परिस्थितियों में विश्वभाषा हिंदी और उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक भूमिका के अध्ययन के लिए नई पाठ्य एवं संदर्भ सामग्री की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरण के लिए विश्व हिंदी-शब्द-कोश, विश्वभाषा का वर्णनात्मक एवं अनुप्रयुक्त व्याकरण, विश्व हिंदी साहित्य का आकलन, संदर्भ कोश और उसके इतिहास पर प्रामाणिक सामग्री तैयारी होनी चाहिए। यह सब कार्य उन संस्थाओं को विशेष रूप से करना है, जो विश्वभाषा हिंदी के अध्ययन एवं प्रसार के लिए बनी हैं। किसी का मुखापेक्षी न होकर उन संस्थाओं को स्वयं इस प्रकार के कार्य करने होंगे। इस दिशा में आगे के अध्ययन के लिए प्रस्तुत किताब सहायक एवं मार्गदर्शक हो सकती है। ■

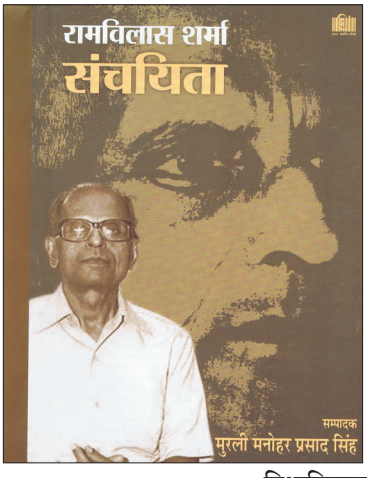

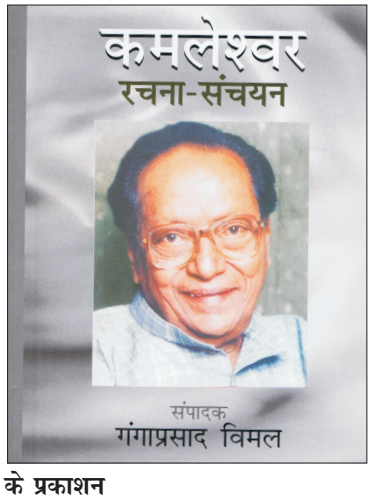

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

जिंदगी बहुत पेचीदा है

■ **विनय कुमार सिंह**
साहित्यकार

संपर्क : संकाय सदस्य,
जे.सी.ई.आर.टी. रांची,
कमरा संख्या-13
एम.डी.आई. बिल्डिंग
प्रोजेक्ट भवन, धुर्वा
रांची - 834004 (झारखंड)

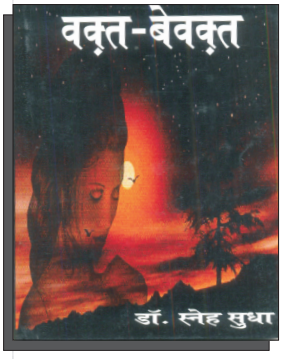

पुस्तक : वक्त-बेवक्त
कवयित्री : डॉ. स्नेह सुधा
प्रकाशक : स्वाक्षर प्रकाशन
पृष्ठ : 176
मूल्य : ₹ 160

''जिंदगी तो बहुत पेचीदा है/तमाम जख्मों के बाद भी/न जाने कैसे?/जीने का हौसला देती है...।'' 'वक्त-बेवक्त' काव्य-संग्रह में संकलित 'टूटना क्या?' की इन पंक्तियों के सवाल का जवाब है- 'रचनाधर्मिता'। जीवन हर कोई जीता है लेकिन अपने अपने तरीके से। इसीलिए परिस्थितियों से संघर्ष करते मनुष्य के अनुभव भी अलग-अलग होते हैं। अधिकतर लोग जिंदगी की इस पेंचीदगी में उलझ कर रह जाते हैं तो कुछ बिरले भी होते हैं जो अर्जित अनुभव-खंडों को मथकर अनुभूति का नवनीत बनाते हैं। रचनाधर्मिता से संबद्ध होकर अनुभूति को अभिव्यक्ति देते हैं और सृजन-सुख से जीने का हौसला पाते हैं।

डॉ. स्नेह सुधा का प्रथम काव्य-संग्रह वक्त-बेवक्त इसी रचनाधर्मिता का परिणाम है। यह पुस्तक 'कलंक' कविता से शुरू होती है और 'फर्क नहीं पड़ता' के हौसले से आखिरी पन्ना जोड़ती है। 'कलंक' में जिंदगी की पेंचीदगी को कवयित्री ने जिस सहजता से अनुभूत किया है, उसमें पूरी नारी जाति की पीड़ा का सामान्यीकरण हो गया है: ''दे रहे हैं सभी मुझे ताने/उस गुनाह के लिए जो मैंने/किया ही नहीं/या कि अब तलक/ठीक से जाना भी नहीं।'' यही तो है 'कलंक'-बेगुनाही की सजा। यह सिर्फ स्त्री के हिस्से में है। लेकिन क्यों? इस 'क्यों?' की पड़ताल के संदर्भ में 'वैधानिक बलात्कार' कविता की पंक्तियां सही चोट करती हैं : ''समाज यह कितना विध्वंसक है/बांधता है नारी को सतीत्व में/पर, नर को वह बांध पाता नहीं।''

इस पुस्तक में कवयित्री की संवेदना का काल देखें तो 26 जनवरी 2001 को गुजरात में आए भूकंप की त्रासदी से लेकर सन् 2014 तक यानी लगभग 13 वर्षों का है। इसी से कविता की अंतर्वस्तु में विविधता है। इसमें प्रेम है, अस्तित्व की तलाश करती संघर्षरत स्त्री है, व्यक्तित्व निर्माण का आत्मबल है, निजी रिश्ते हैं। सामाजिक और प्राकृतिक आपदाएं हैं, व्यवस्था की दुर्व्यवस्था है, दिमागी हलचल है, रचनाकर्म की जद्दोजहद है, प्रकृति है, बीएचयू और जेएनयू है, इन संस्थानों के पुरोधा हैं और कवयित्री का अपना निजी संघर्ष भी है- आर्थिक, सामाजिक, मानसिक और भावनात्मक संघर्ष के रूप में। इतनी विविधताओं के बीच भी कुछ है जो एक सौ बाइस कविताओं में एकता स्थापित करती है और वह है-अनुभूति की सहज, प्रामाणिक अभिव्यक्ति। प्रिय से बड़ी सहजता से 'प्रेम में जी रही लड़की' अपनी बात कह देती है : ''प्रिय मेरे/प्रेम केवल देह की पोरों में/या बिस्तर की सिलवटों में/ही नहीं बसता.../प्रेम/मेरी/सिसिकियों में भी होता है।''

'पतिता' कविता में वेश्या-जीवन की व्यथा है : ''संभाषणों का लेप भी नहीं/भोग और केवल भोग।'' निजी रिश्तों में सबसे पहले 'मां' हैं : ''आंचल में ठंडी-सी छांव/ मेरी मां तू है ईश्वर का वरदान।'' पापा के 'गुणसूत्रों से बनी' 'बेटी' 'पापा' को ''जब भी देखा है मैंने/नवस्फूर्त ही पाया है।'' और 'दादाजी'-बहुत कुछ उनमें प्रगतिशील था/समय से आगे चलते 'दादाजी'। 'मिलता गर नव जीवन' कविता आत्मबल से व्यक्तित्व निर्माण का स्वप्न संजोए है : ''सारे अनुभवों के बीच से/इसी जीवन का-/नव निर्माण करूं।''

रिश्तों के संदर्भ में कवयित्री कहती है : ''बहुत तकलीफ होती है। जब विश्वास टूटता है।'' क्यों टूटता है विश्वास? कितनी सहजता और प्रामाणिकता से कह पड़ती है, जवाब इस प्रश्न का : ''हर रिश्ते में लोग/तलाशने लगते हैं-एक ही 'रिश्ता'। रेखांकित 'रिश्ता' शब्द का व्यंग्य बेधक है और प्रयोग सफल। एक साथ यह 'रिश्ता' शब्द आनंदवर्द्धन के प्रतीयमान और आजकल के साहित्यिक औजार विखंडनवाद दोनों का उदाहरण बन सकता है। साथ ही 'आतंकवाद', 'बम बिस्फोट', 'रक्षक या भक्षक', 'सीमा पार' 'प्रकृति का बदला', भिक्षुक पुराण', 'आतंक के साए में', भूकंप और मैं', 'राहतकर्मी', 'वह मेस का छोटू', 'गर्भ में हूं मैं' आदि कविताएं हैं जो सामाजिक संवेदना, प्राकृतिक आपदा, व्यवस्था की विसंगति और मानवीयता के सबल-निर्बल पक्ष को उजागर करती हैं। जो कविताएं 'मन की गांठें' खोलने का प्रयास करती हैं, उनमें कवयित्री की संवेदनाएं स्वयं को कुरुक्षेत्र में खड़ा पाती है, जहां : ''हर शब्द बेईमानी से लगते हैं'', ''मेरी सारी क्षमताएं/चूक गई हैं/खाली-खाली सा लगता है/सब कुछ।'' फिर सवाल खड़ा होता है-ऐसा क्यों? इस 'क्यों' के संदर्भ में 'आत्मबल के लिए' कविता में संकेत है-''बेवजह तो कुछ भी नहीं होता-/न विश्वास और न अविश्वास।''

इस संकेत को कवयित्री स्पष्ट करती है, 'वह लड़की' कविता में- ''प्यार में कोई शर्त नहीं होती/और शादी/बिना शर्तों को पूरा किए/कभी होती नहीं।'' विश्वविद्यालयी चेलागिरी और चेलों के लिए द्रोणाचार्य बने 'पुरोधा' का पोल खुल गया है: ''बस फैलाते हैं भ्रम/यदा-कदा/जिससे बना रहे साम्राज्य उनका/और काम भी निकलता रहे।'' अर्थाभाव की ठोकर पर चोटिल रचनाकार कितना विवश होता है 'छद्म लेखन' का सहारा लेने को, लेकिन इस विवशता में भी वह अपना सच जानता है :''शब्दों की आंच भी जाती रही/और लेखन भी बेकार हुआ।''

'किसान की स्त्री' अपने गर्भस्थ शिशु के लिए पति से जो कहती है और हंसते हुए कहती है, वे पंक्तियां किसान जीवन के भूत, वर्तमान और भविष्य की पीड़ा का महाकाव्यात्मक दस्तावेज बन गई हैं- ''स्त्री हंसती है-/हमारा बच्चा है/भूखा भी तंदरुस्त रहेगा/बेटा हुआ तो/जुटा रहेगा खेतों में, और-/बेटी हमारी-/झेल जाएगी भूख, बीमारी सब/और जुती रहेगी/गृहस्थी की चक्की में। ''स्त्री पूरा जीवन खपा देती है, किसी की पत्नी, किसी की बहू, किसी की मां बनकर। 'मैं हूं... तो!' इस अस्तित्वबोध से पीड़ित स्त्री की कविता है। जीवन के अंतिम दिनों में वह चाहती है- ''मुझे मेरा नाम लौटा दिया जाए/चाहे दो अक्षरों का ही सही/और 'कुछ' भी जिसे/मैं कह सकूं 'मेरा'।'' इन सारे 'संघर्ष के पल' में उसे आत्मबोध है- ''बस, एक जीत/और/हर कदम के मायने बदल जाते हैं।'' इसलिए जब तक जीत न हो तब तक इस संघर्षमय जीवन में ''अपनी मुस्कुराहटों से यही/व्यक्त होना है/कि मुझे फर्क नहीं पड़ता।''

इस तरह 'वक्त-बेवक्त' विभिन्न अनुभव खंडों के साथ प्रमुख रूप से स्त्री-संवेदना का साक्षात्कार ग्रंथ है। विश्वास भरे रिश्तों से यौन-उत्पीड़ित भयभीत बालिका से लेकर एक अदद अपने नाम को तरसती, जीवन के अंतिम क्षणों में स्थित स्त्री के अंतराल में नारी कई रूपों में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती उपस्थित है। इस काव्य-संग्रह में एक और बात महत्वपूर्ण है कि भाव जितने सच्चे हैं, भाषा उतनी ही सहज है। बिंबों की जटिलता और प्रतीकों की दुरूहता से दूर भावाभिव्यक्ति हृदय-स्पर्शी है। कुछ कविताओं में लयात्मकता का अवरुद्ध होना खटकता है पर ऐसा वहीं हुआ है जहां अनुभूति को विचार-पोषित विस्तार देने का प्रयत्न हुआ है। कविताओं का क्रम संयोजन और बेहतर किया जा सकता है। पाठकों के लिए पठनीय काव्य-संग्रह 'वक्त-बेवक्त' कवयित्री का प्रथम प्रयास होते हुए भी अनुभूति और अभिव्यक्ति में विशिष्ट है। उन्हीं के शब्दों में, ''ऐसा तेज फिर भरा जाए.../कहूं जो कुछ बन सके फिर।'' ■

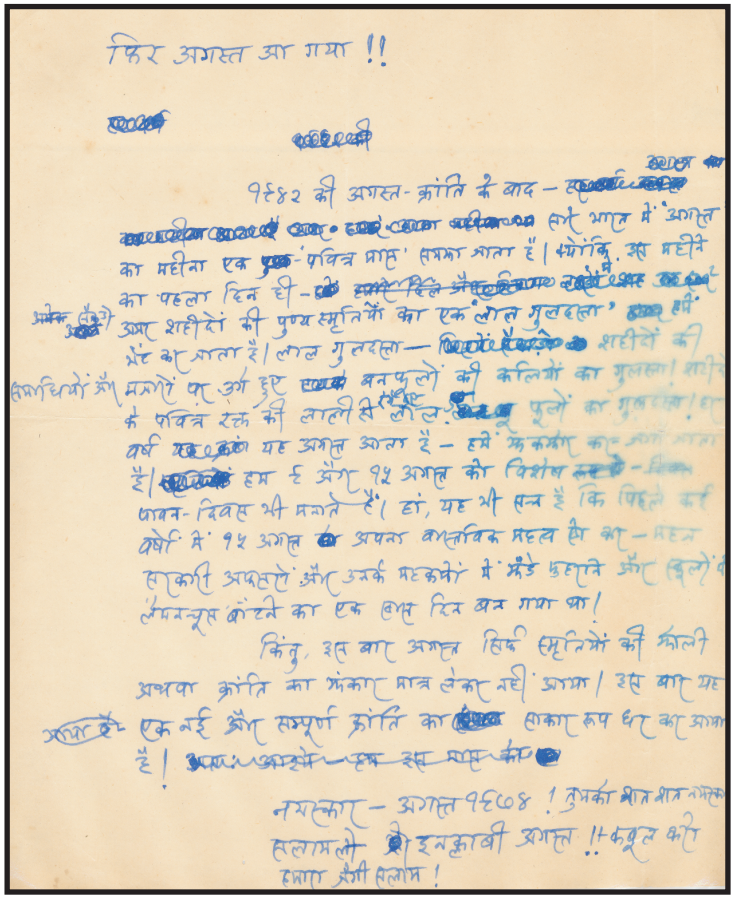
फिर अगस्त आ गया !!

१९४२ की अगस्त-क्रांति के बाद –

का महीना एक 'पवित्र माह' समझा जाता है। क्योंकि, इस महीने

का पहला दिन ही –

और शहीदों की पुण्य स्मृतियों का एक 'लाल गुलदस्ता'

भेंट कर जाता है। लाल गुलदस्ता –

के पवित्र रक्त की लाली से लाल

वर्ष यह अगस्त आता है – हमें

है। हम ९ अगस्त १५ अगस्त को विशेष

पावन-दिवस भी मनाते हैं। हां, यह भी सच है कि पिछले

वर्षों में १५ अगस्त

लंगड़ाकर चलने का एक लम्बा दिन बन गया था।

किंतु, इस बार अगस्त सिर्फ स्मृतियों की

अथवा क्रांति का झंकार मात्र लेकर नहीं आया। इस बार यह

एक नई और सम्पूर्ण क्रांति का

है।

नमस्कार – अगस्त १९७४ ! तुम्हारा शत शत नमस्

सलाम हो इन्कलाबी अगस्त !! कबूल करो

हमारा अंतिम सलाम !

फणीश्वरनाथ रेणु रचित 'फिर अगस्त आ गया' की पांडुलिपि